ओम प्रकाश शर्मा

विष कन्या

ओम प्रकाश शर्मा

● प्रकाशक :
रंगमहल कार्यालय
लाहौरीगेट, देहली-६

● वितरक :
गर्ग एण्ड को०
खारी बावली, देहली-६

● मूल्य : दो रुपया

● मुद्रक :
सत्य प्रिंटिंग प्रेस,
करौल बाग, नई दिल्ली-५
फोन : ५६२३८

S.C. Rastogi

प्रकृति का कोप

उससे न स्थानीय जन बचे, न यात्री !

स्वर्ग भूमि काश्मीर पर मानो जल-प्रलय की घड़ी आ गई। विनाश के काले, घनघोर बादल घिर आये।

वर्षा आरम्भ हुई तो ऐसी कि किसी ने कभी देखी न थी पहाड़ों का जल जब नीचे की ओर उमड़ा तो काश्मीर की सारी घाटी जल मग्न हो गई।

निर्धनों के झोंपड़े बह गये। ऊंचे वृक्षों पर चढ़कर जीवन रक्षा के प्रयत्न में भूखे प्यासे मानव कातर नेत्रों से आकाश की ओर देख रहे थे, और आकाश बिफरे हुए दानव की भांति बादल-दल

की सेना के साथ भीषण गर्जनायें कर रहा था और तीव्र झड़ी लगाकर जैसे इस स्वर्ग को नष्ट ही कर देना चाहता था !

जल ही जल···!

आवागमन के मार्ग अवरुद्ध हो गये। सड़कें विशाल जल-प्रवाह में खो गई, हवाई यातायात भी ठप्प पड़ गया। क्योंकि पहाड़ों पर पानी बरसते ही कुहरा छा जाता है, इन्जीनियरों ने चिन्ता प्रकट की—'यही हाल रहा तो श्रीनगर का अस्तित्व मिट जायेगा !'

और होटल 'श्रीनगर शोभा' में।

अन्य यात्रियों सहित केन्द्रीय खुफिया विभाग के प्रसिद्ध जासूस राजेश और उनका प्रमुख सहयोगी जयन्त भी, जो किसी तरह समय बचाकर एक सप्ताह के लिए 'वर्षा बहार' देखने श्रीनगर आये थे, किन्तु सब के सब होटल 'श्रीनगर शोभा' में एक प्रकार से कैद थे। कैद में निश्चित परिधि से बाहर जाना मना होता है न, और इस कैद में कमरों की खिड़कियां खोलना भी मना था। भीषण वर्षा एक क्षण का भी विराम लिये बिना चल रही थी।

पहली रात में—

दिन भर की इस कैद से व्याकुल यात्रियों में से कुछ जिन्दा दिल यात्री रात्रि-भोजन के लिए होटल के डायनिंग हाल में एकत्र हुए समय बिताने के स्वार्थ से यात्रियों ने आपस में परिचय का आदान प्रदान किया।

यात्रियों में एक थे चेतन घोष। यह कलकत्ते के एक समाचार पत्र के सम्पादक थे। राजेश और जयन्त का परिचय पाकर वह बेहद प्रसन्न हुए और उन दोनों की प्रशंसा के पुल बांधते हुए बोले—'कमाल है सज्जनों, यह जोड़ी जो आपके बीच बैठी है, एक कमाल है ! साधारण डाकू और अपराधी को डरा देने के लिए

इतना ही कह देना काफी होता है कि—'राजेश और जयन्त आ रहे हैं।'

राजेश और जयन्त चकित रह गये, जब चेतन घोष ने एक प्रत्यक्षदर्शी की भाँति, उन दोनों के कारनामे सुनाने आरम्भ किये। जितना चेतन घोष उनके बारे में जानते थे वह उतना तो वह दोनों अपने बारे में स्वयं उन्हें भी याद नहीं था। उनके लिए आश्चर्य की बात थी।

डिनर समाप्त हो गया, परन्तु चेतन घोष का भाषण समाप्त नहीं हुआ। पूरे एक घन्टे मनोरंजक और मुहावरेदार भाषा में जयन्त एवं राजेश के विषय पर सुन्दर भाषण देने के बाद मिस्टर घोष ने उपसंहार में कहा—'यह सौभाग्य की बात है कि दोनों महानुभाव आज हमारे बीच उपस्थित हैं। मेरा सुझाव है कि हम सब मिस्टर राजेश और जयन्त की स्वास्थ्य कामना के लिये काफी के जाम पियें, और इस प्रलयंकर रात को सुखद बनाने के लिये दोनों महानुभावों से इनके जासूसी जीवन के सच्चे संस्मरण सुनें।'

सबने श्री घोष के सुझाव का स्वागत किया।

गरमागरम काफी आ गई। तब पहले घोष ने और फिर अन्य व्यक्तियों ने राजेश से आग्रह किया कि वह कुछ सुनायें।

राजेश ने अपनी कठिनाई बताई—'मैं चकित हूं सज्जनों, आप सच मानें, मेरे जीवन की सभी मुख्य घटनायें एवं संस्मरण मिस्टर घोष ने सुना दिये हैं। मुझ जैसे अदना आदमी के बारे में जब श्री घोष की इतनी विस्तृत जानकारी है तो प्रसिद्ध व्यक्तियों के बारे में तो आप पता नहीं कितना, कहां तक जानते होंगे ? मेरा श्री घोष से अनुरोध है कि वही हमें देश की विभूतियों के सम्बन्ध में कुछ

सुनायें।'

'टालमटोल करके आप अपना पिण्ड नहीं छुड़ा सकेंगे मिस्टर राजेश।' घोष ने अनुरोध किया—'मैं यह सुअवसर हाथ से जाने नहीं दूंगा।'

'परन्तु आखिर मैं सुनाऊं क्या ? मैं सच कहता हूं कि आप मुझसे अधिक मेरे बारे में जानते हैं। जितने विस्तार से आपने बताया है उसके बाद मेरे पास कृतज्ञता-ज्ञापन के अतिरिक्त और कुछ कहने को शेष ही नहीं रहता !'

'तो आप इतने सस्ते छूट जाना चाहते हैं ?' एक और व्यक्ति ने कहा—'परन्तु हम छोड़ने वाले नहीं। चलिये, आपकी ही बात बड़ी रही, कि श्री घोष ने आपके पास अपने बारे में सुनाने के योग्य कुछ नहीं छोड़ा। फिर भी आप ही किसी और महान् व्यक्ति के बारे में कुछ सुनाइये। किसी ऐसे जासूस के कारनामे जिसके बारे में आप अधिक जानते हों।'

'हां, आपकी यह आज्ञा मानी जा सकती है। कहिए किस जासूस के बारे में आपको सुनाऊं ?'

घोष ने कहा—'यह आपकी इच्छा पर निर्भर है। हमारा उद्देश्य तो है इस रात को सुखद और चिरस्मरणीय बनाना।'

कुछ क्षण राजेश सोचते रहे। फिर बोले—'अगर आप सबकी आज्ञा हो तो मैं इतिहास के प्रसिद्ध जासूसों के बारे में कुछ चर्चा आरम्भ करूं। मैं समझता हूं कि यह चर्चा दिलचस्प भी रहेगी। यह स्पष्ट बात है कि जनतन्त्र के इस युग में छोटे बड़, सरकारी और गैर-सरकारी सभी जासूसों की एक सीमा होती है। कर्तव्य चाहे कितने ही विशाल और दुरुह हों, परन्तु किसी भी परिस्थिति में सीमा का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। परन्तु प्राचीन-काल

में, जब राजाओं की आज्ञा मात्र ही विधान होती थी, तब के जासूसों की सीमा, सीमाहीन थी। फलस्वरूप उनके कार्य आश्चर्य-जनक और दुस्साहसपूर्ण होते थे। क्या आप ऐसी चर्चा पसन्द करेंगे ?'

सभी ने एक स्वर में राजेश के सुझाव का समर्थन किया।

'तब सुनिये।' राजेश बोले।

शंकर मिश्र ग्यारहवीं शताब्दी में प्रयागराज में उत्पन्न हुए थे और अयोध्या के राज्य में दस वर्ष राज्य के सर्वाधिक विश्वासी गुप्तचर रहे, परन्तु किसी कारणवश उनकी राज्य से बिगड़ गई और उन्हें मजबूर होकर अपनी पत्नी तथा एक पांच वर्षीया कन्या सहित अयोध्या का राज्य छोड़ कर पलायन करना पड़ा। यों तो ऐसे राज्य और राजाओं की कमी नहीं थी।

परन्तु राजाओं की चाकरी से शंकर मिश्र का मन खिन्न हो गया था और उनका विचार था कि काशी राज्य में पहुंच कर गुप्तचरी के धन्धे को गंगा मैया में प्रवाहित कर कोई पाठशाला स्थापित करके शेष जीवन पठन-पाठन में बिता दें। परन्तु भाग्य ने अभी मिश्र जी का साथ नहीं छोड़ा था, प्रयाग से निकलते ही जिस

यात्री दल के साथ मिश्र जी काशी के लिये चले थे उस पर डाकुओं ने आक्रमण किया और जीवन भर की कमाई से मिश्र जी हाथ धो बैठे। यहां तक कि काशी जाने का एकमात्र सहारा गाड़ी और बैल भी छिन गए···लाठी, तलवार और भालों के जोर से डाकुओं से नहीं निपटा जा सकता था। परन्तु डाकुओं से निपटना वैसे कोई कठिन बात नहीं थी। मिश्र जी ने अपनी पत्नी से आग्रह किया कि वह कन्या सहित यात्री दल के साथ चले—'अगर इस लूट से दुगना माल इन्हीं डाकुओं से लेकर काशी न लौटूं तो शंकर नाम नहीं।' यह विश्वास दिलाने पर भी कि वह यात्री दल से पहले काशी पहुंच जायेंगे दुर्बल हृदय नारी यह सुझाव स्वीकार नहीं कर सकी। वह एक क्षण के लिए भी पति को इस अनजाने मार्ग पर नहीं छोड़ना चाहती थी, मजबूरन मिश्र जी को भी अपना निश्चय त्यागना पड़ा, और उस लुटे हुए यात्री दल के साथ पैदल ही फिर काशी की ओर चल दिये।

यात्री दल का लुट जाना उस युग की साधारण बात थी। जब वह यात्री दल काशी पहुंचा तो राजकोष से उन्हें कुछ खाद्य सामग्री मिल गई। गंगा के किनारे यात्रियों के लिये अस्थाई झोंपड़ियां बनवा दी गईं।

काशी में पहली रात बीती।

दूसरे दिन प्रातःकाल ही यात्री समूह में पाटलिपुत्र के कुछ सैनिक आए और उन्होंने घोषणा की पाटलिपुत्र के महाराज श्री समरसेन के इक्कीसवें जन्म दिवस के उपलक्ष्य में, पाटलिपुत्र के महामन्त्री जो आजकल काशी महानगरी में पुण्य-लाभ हेतु पधारे हैं शीघ्र ही इस डाकुओं से पीड़ित यात्रियों के समूह में पधार रहे हैं, और सब यात्रियों को एक-एक स्वर्ण मुद्रा तथा एक-एक दुशाला

उपहार में देंगे।

यात्रियों ने पाटलिपुत्र के महाराज की जय का नाद किया।

कुछ क्षण बाद अधेड़ आयु के महामन्त्री अविनाश पधारे, उनके सैनिकों ने पाटलिपुत्र का राज्य उपहार यात्रियों को बांटना आरम्भ कर दिया।

उपहार बांटने वाले सैनिकों ने जब शंकर मिश्र को अपनी पत्नी तथा कन्या सहित बिना किसी प्रकार की आतुरता के झोंपड़ी में बैठे देखा तो विस्मय हुआ। एक ने कहा—'आर्य, कृपया बाहर आकर महाराज समरसेन का उपहार स्वीकार कर लीजिए।'

मिश्र जी अपने स्थान से हिले नहीं। नम्र स्वर में यथा स्थान बैठे २ ही उन्होंने उत्तर दिया—'तुम्हारे महाराज का मैं आभारी हूं, सैनिक, कोटिशः धन्यवाद। एक सौगन्ध है जिसके कारण मैं उपहार स्वीकार नहीं कर सकूंगा।' यह सुनकर सैनिकों में से एक ने यह सूचना महामन्त्री अविनाश को भी दी। उन्हें कौतूहल हुआ, स्वयं चलकर मिश्र जी की झोंपड़ी तक आये।

किन्तु वहां शंकर मिश्र को देखकर चकित रह गये। महामन्त्री अविनाश शंकर मिश्र से भली-भांति परिचित थे। चार वर्ष पहले जब पाटलिपुत्र के भूतपूर्व महाराज का स्वर्गवास हुआ था और बालक महाराज समरसेन राजगद्दी पर बैठे तो उत्कल राज्य के पाटलिपुत्र की स्थिति का लाभ उठाकर आक्रमण कर दिया था। तब अयोध्या नरेश ने पाटलिपुत्र को सैनिक सहायता दी थी, और शंकर मिश्र ने शत्रु की सेना के ऐसे ऐसे भेद लाकर दिए थे कि मंत्री अविनाश उसके कौशल से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके थे! आज उन्हीं गुप्तचरों के सिरमौर शंकर मिश्र को दीन अवस्था में बैठे देखकर महामन्त्री को दुःख हुआ! विनम्रता से उन्होंने

कहा—'गुप्तचरों के सिरमौर शंकर मिश्र जी को प्रणाम!'

दृष्टि उठाकर मिश्र जी ने देखा और तुरन्त उठकर अभिवादन करते हुए कहा—'आप महामन्त्री, मेरे कारण आपको झोंपड़ी तक आने का कष्ट हुआ, क्षमा प्रार्थी हूं। अगर मुझे ऐसा आभास भी होता कि तनिक-सी बात पर आप स्वयं आने का कष्ट करेंगे तो मैं उपहार अस्वीकार न करता!'

'वह तो उचित ही था, मिश्र जी। सचमुच ऐसा तुच्छ उपहार आपको स्वीकार करना भी नहीं चाहिए था। परन्तु यह तो कहो कि पत्नी और कन्या सहित, इस अवस्था में काशी में कैसे? लगता है यात्रा करने आये हो, विश्वनाथ के दर्शनों का पुण्य लाभ प्राप्त करने। अभी तो युवक हो, ऐसी जल्दी क्या थी? खैर पुण्य धर्म तो गृहस्थ में होते ही रहने चाहिए। परन्तु कुछ सैनिकों को तो साथ लाना ही चाहिए था। और लुटकर झोंपड़ी में बैठे रहने की क्या जरूरत थी? अयोध्या के महाराज की राज्य-मुद्रिका तुम्हारे पास होगी, किसी भी साहूकार से हुण्डी लिखकर द्रव्य ले लेते? क्या राज्य मुद्रिका भी डाकू लूटकर ले गये? फिर भी चिन्ता की क्या बात है? मेरे कोषाध्यक्ष से जितनी स्वर्ण मुद्रा आवश्यक हों ले लो! हुण्डी लिखकर देने की जरूरत नहीं, जब सकुशल अयोध्या पहुंच जाओ तो भेज देना, किसी व्यापारी के हाथ!'

मिश्र जी ने महामन्त्री से बैठने का आग्रह नहीं किया? कहाँ बैठाते महामन्त्री को? झोंपड़ी में गंगा की रेत के अतिरिक्त और था ही क्या? परन्तु महामन्त्री अविनाश इन्सान के पारखी थे। मिश्र जी की कन्या और पत्नी का अभिवादन करते हुए वह निस्संकोच झोंपड़ी के भीतर पहुंचे और रेत पर पालथी मार कर बैठ गये।

मिश्र जी ने भी निकट ही बैठकर अपनी स्पष्ट स्थिति महामंत्री को बता दी—'राजा राज्य धर्म छोड़कर सुरा और सुन्दरियों के पीछे मस्त है, अयोध्या में गुप्तचरों से अब यह काम लिया जाने लगा है कि वह प्रजा की बहू-बेटियों में से सुन्दरी छाँटें और रनिवास में भिजवा दें।'

'तो मिश्र जी, फिर पाटलिपुत्र चलो।' महामन्त्री ने निमंत्रण दिया।

'परन्तु महामन्त्री जी, पाटलिपुत्र में मेरा उपयोग क्या होगा? मैंने गुप्तचरी छोड़ने का निश्चय किया है?'

'हां हां, तो क्या हुआ? राज्य से तुम्हें निर्वाह योग्य वृत्ति मिलती रहेगी, फिर चाहे तुम कुछ करना या मत करना!'

'यह तो उचित नहीं होगा महाराज।'

'सब उचित होगा मिश्र जी। मैं जानता हूं कि अयोध्या छोड़ने की व्यथा है तुम्हारे अन्तर में···और यात्रा का कष्ट स्वाभाविक है जिससे मनुष्य में विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। सर्वप्रथम ऐसे प्रबन्ध की आवश्यकता है कि तुम शान्त जीवन में प्रवेश करके बीती विसार सको। तब विचार होगा कि क्या करना है और क्या नहीं करना। तुम ठहरे ब्राह्मण, सो देवता अगर पगड़ी उतार कर और तुम्हारे चरणों में रखकर तुमसे पाटलिपुत्र चलने का आग्रह करूंगा तो क्या सचमुच तुम मेरी पगड़ी को ठोकर मार कर इन्कार कर दोगे?'

और चतुर राजनीतिज्ञ अविनाश शंकर मिश्र को अपने साथ पाटलिपुत्र ले ही गये!

इतनी कहानी सुनाने के बाद राजेश रुके और काफी का घूंट लेते हुए उन्होंने पूछा—'कहिये क्या आप उस युग के श्रेष्ठ गुप्तचर शंकर मिश्र की कहानी सुनना पसन्द करेंगे?'

'वाह! भला यह भी कोई बात हुई, हम सब तन्मय होकर सुन ही रहे थे आपको पूछने की आवश्यकता ही भला क्यों पड़ी?' घोष ने कहा।

'कहानी अभी आरम्भ ही कहां हुई है? अभी तो मैंने आपको केवल इतना ही बताया है कि शंकर मिश्र पाटलिपुत्र कैसे पहुंचे अगर वास्तव में कहानी की यह भूमिका आपको रुचिकर रही हो तो मैं शेष कहानी बताऊं?'

'अवश्य, हम लोग आतुर हैं!'

'शंकर मिश्र से सम्बन्धित जो ऐतिहासिक कथा मैं आपको सुना रहा हूं उसकी नायिका है एक विष कन्या। आवश्यक है कि कहानी आरम्भ करने से पहले मैं यह स्पष्ट कर दूं कि विष कन्या कौन होती थी और उनका उपयोग क्या होता था। देखिये बीड़ी सिगरेट एक नशा है। हम लोग तम्बाकू के आदी हो चुके हैं, फलस्वरूप तम्बाकू का नशा हमारे लिए इतना सामान्य हो चुका है कि हम नशे का अनुभव नहीं कर पाते, अर्थात जो नशा हम करते हैं कुछ ही दिनों में उसके आदी हो जाते हैं और हमारे दिल और दिमाग पर उसका सीधा असर दिखाई देना बन्द हो जाता है। अलबत्ता नशे का कुप्रभाव हमारे सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होता रहता है और जैसे ही आयु बढ़ती है वह प्रभाव स्पष्ट होने लगता है और नशे के प्रभाव से जर्जर शरीर रोग ग्रस्त होकर क्षीण हो जाता है।

एक नशे बाज दिनों दिन नशे की मात्रा बढ़ा सकता है, और नशे की मात्रा बढ़ाने की उस समय तक कोई सीमा नहीं है जब तक कि नशे के विष का कुप्रभाव उसके प्राण न ले ले।

'हां तो बात विष कन्या की थी। विष कन्यायें वह तरुणियाँ होती थीं जिन्हें उस समय के राजा विशेष रूप से अपने शत्रुओं के लिए तैयार कराते थे। चुनी हुई ऐसी बालिकायें जो नख-शिख से सुन्दर होती थीं, बाल्यकाल में ही अपहरण अथवा क्रय करके आबादी से दूर विष कन्या केन्द्र में भेज दी जाती थीं, वहां पुरुष का जाना वर्जित होता था। यहां तक कि राजा अथवा महामन्त्री को भी वहां जाने की आज्ञा नहीं होती थी।

'विष कन्यायें कैसे तैयार की जाती थीं इसके बारे में सभी इतिहासकार एक मत हैं कि जब बालिका उस गृह में पहुंचती थी

तब उनकी विशेष शिक्षा-दीक्षा आरम्भ हो जाती थी। उन्हें संपूर्ण कलायें सिखाई जाती थीं, राज्य भक्ति उनमें कूट २ कर भरी जाती थी और नशा आरम्भ कर दिया जाता था।

'"...नशे का आरम्भ पानी में पलने वाले साधारण सर्प से किया जाता था। इस पानी के सांप में जहर न्यूनतम होता है। उतना कि काटे तो मनुष्य को इतना ही नशा हो जितना कि प्रथम बार तम्बाकू पीने अथवा खाने से। अब उन कन्याओं को धीरे-धीरे नशे का आदी बनाया जाता था और तरुण अवस्था तक पहुंचते-पहुंचते उन्हें अपने नशे की पूर्ति के लिए असली नाग का दंश कई बार दिन में लेना होता था।'

'और तब विष कन्या शिक्षित सुसंस्कृत कला प्रवीण ऐसी तरुणी होती थी जिसके सहवास से मनुष्य तुरन्त ही तड़प-तड़प कर मर जाता था।'

इतना कहकर राजेश ने काफी की एक घूंट ली। अवसर पाकर घोष ने पूछा—'एक प्रश्न पूछ सकता हूं मिस्टर राजेश ?'

'अवश्य।'

'राजा अथवा महामंत्री को वहां जाने की आज्ञा नहीं होती थी, आखिर क्यों ?'

'इसलिये कि राजा और महामंत्री भी पुरुष ही होते थे और विष कन्यायें स्त्री रूप में ऐसी मोहिनी होती थीं कि पुरुष उनके रूप में व्याप्त विष को जानकर भी केवल एक बार सहवास पाने के लिए पागल हो सकता था। इसलिए विष कन्या गृह के प्रबन्धक बूढ़े और अत्यन्त विश्वासी राज्य सेवक हुआ करते थे। नोट करने की बात यह है मिस्टर घोष कि पूरे शरीर में विष का अक्षय भण्डार रखने वाली विष कन्यायें पुरुष के सहवास से दूर ब्रह्मचारिणी होती

थीं। उन्हें अन्न बहुत न्यूनतम मात्रा में दिया जाता था। बस फल और दूध ही उनका भोजन होता था। नमक केवल उतना ही उनके शरीर में पहुंचता था जितना फलों आदि में होता था। अन्यथा नमक भी उन्हें नहीं दिया जाता था।

'फलस्वरूप उनके मुख पर दीप्ति और आंखों में नशे की मादकता तथा सम्पूर्ण शरीर में उचित भोजन व्यवस्था के कारण विशेष सौन्दर्य होता था। परन्तु इतिहास में एक बात ऐसी है जिसे पढ़कर आश्चर्य होता है कि किसी भी विष कन्या ने कभी भी अपने स्वामी से छलकपट अथवा विद्रोह नहीं किया। वह आश्चर्यजनक रूप से राज्यभक्त होती थीं और राजा की आज्ञा ही उनके लिए ईश्वर की आज्ञा होती थी। जहां तक विष कन्याओं के कर्तव्य का सम्बन्ध है यह सर्व विदित है कि उनका उपयोग एक राजा अपने शत्रु या दूसरे राजा पर किया करता था। ऐसे उदाहरण नाम मात्र को हैं जब किसी राजा ने राजा के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति पर विष कन्या का प्रयोग किया हो—हां तो अब आप सब साहबान कहें कि शंकर मिश्र से सम्बन्धित विष कन्या की कहानी आरम्भ करूं ?' राजेश ने भूमिका समाप्त करते हुए कहा।

'अवश्य···अवश्य !' सभी ने आग्रह किया।

'परन्तु एक शर्त है, अगर किसी ने कहानी के दौरान में उबासी ली तो मैं समझूंगा कि अब श्रोताओं को आलस्य सताने लगा है। मैं कहानी सुनाना बन्द कर दूंगा ?'

'अजी आप आरम्भ तो कीजिए, आखिर दिन भर हम सभी अपने-अपने कमरों में बन्द सोते ही तो रहे हैं ? विश्वास रखिये चाहे सुबह क्यों न हो जाये उबासी की तो बात दूर रही, हम लोग अगर आप चाहें तो निरन्तर हुंकारी देने के लिए भी तत्पर हैं ?'

राजेश मुस्कराये—'इसकी आवश्यकता नहीं, इसलिए कि यह नानी की कहानी नहीं, इतिहास का ऐसा अध्याय है जो प्रत्येक दृष्टि से दिलचस्प है—कहानी तब से आरम्भ होती है जब पाटलिपुत्र में रहते-रहते शंकर मिश्र को हर माह पांच स्वर्ण मुद्रायें घर बैठे मिल जाती थीं।

वर्ष पर वर्ष बीतते रहे परन्तु महामंत्री अविनाश ने किसी भी काम के लिये शंकर मिश्र से नहीं कहा। और चार वर्ष बाद एक ऐसी रात में जब कि मेंह मूसलाधार बरस रहा था, बिजली चमक रही थी। रात का दूसरा पहर था—मिश्र जी लेटे हुए थे, पत्नी पैताने बैठी थी और कन्या सिरहाने बैठी पिता से कहानी सुनाने का अनुरोध कर रही थी। कन्या के आग्रह से मजबूर होकर मिश्र जी पत्नी की ओर देखकर मुस्कराये—'कान्ता बेटी बिना कहानी सुने रहेगी नहीं शुभदा—तो बेटी सुन कहानी। बहुत वर्ष बीते दूर बहुत दूर सिंहलद्वीप में एक राजकुमारी रहा करती थी। राजकुमारी क्या थी साक्षात् लक्ष्मी का अवतार थी। हंसती तो मुख से जवाहरात निकलते और रोती तो आंखों से मोती बरसते।'

पर कहानी को रुक जाना पड़ा। घर का द्वार किसी ने खटखटाया, उठते हुये मिश्र जी ने अपनी पत्नी को सम्बोधित किया—'वर्षा से पीड़ित कोई राहगीर प्रतीत होता है। मैं जाकर द्वार खोलता हूं, तुम बैठक में बिछावन कर दो।'

मिश्र जी ने द्वार खोला। देखा तो चकित रह गये। द्वार पर साधारण राहगीर की वेश-भूषा में महामंत्री अविनाश खड़े थे।

'ब्राह्मण देवता को प्रणाम करता हूं, कुछ क्षण के लिये निर्धन पथिक को आश्रय मिलेगा ?'

'महान् पथिक आयुष्मान हों। पधार कर गृह पवित्र कीजिये।'

आदर सहित महामंत्री का हाथ थाम कर बैठक की ओर ले जाते हुये तनिक ऊँचे स्वर में मिश्र जी ने कहा—'देवी सुभद्रा, असाधारण राही महामंत्री पधारे हैं। स्वच्छ पीताम्बर ले आओ, वर्षा के कारण इनके सभी वस्त्र गीले हो गए हैं, और फिर तुरन्त गर्म दूध की व्यवस्था करो।'

महामंत्री ने मिश्र जी का आतिथ्य स्वीकार किया। गीले वस्त्र उतार कर पीताम्बर पहना और फिर दूध पीकर बर्तन रखते हुये एक अर्थपूर्ण मुस्कराहट सहित गहन दृष्टि से मिश्र जी की ओर देखा।

'क्षमा करें महामंत्री, ब्राह्मणों के लिये सुरा त्याज्य है। इस लिये घर में तो है नहीं। आज्ञा हो तो सेवक को भेज कर मंगवाऊँ?'

'न-न मिश्र जी···सुरापान करता हूं यह सत्य है, परन्तु ब्राह्मण का निवास तो देवालय होता है। यहां यह अनर्थ कदापि नहीं करूँगा।'

'तब आर्य, पधारने का प्रयोजन कहें?'

'वही तो कहने आया हूं, आप पर कुछ जोर तो है नहीं, फिर भी निवेदन करूँगा। सूचनार्थ निवेदन है कि मुझे राजकीय यात्रा के लिये कल कर्नाटक के लिये प्रस्थान कर देना होगा। यात्रा टाली नहीं जा सकती और अभी सायंकाल ऐसा दुःखद समाचार मिला है कि उत्कल राज्य से मिलती हुई पाटलिपुत्र की सीमा-रक्षा के विषय ने मुझे चिन्तित कर दिया है!'

'स्पष्ट कहिये महामंत्री, क्या उत्कल राज्य ने फिर पाटलिपुत्र पर चढ़ाई कर दी?'

'नहीं मिश्र जी, नहीं। मुझे पाटलिपुत्र की सेना पर अभिमान है—उत्कल, बंग और कामरूप एक साथ पाटलिपुत्र पर चढ़ाई कर दें तब भी हमारी सेना उनको उल्टे पैरों लौटा सकती है। समाचार इससे भी अधिक चिन्ताजनक है।'

'शीघ्र कहें महामंत्री, वह क्या समाचार है, जिसने आप जैसे धैर्यवान् को विचलित कर दिया है?'

'उत्कल की सीमा पर हमारी नगरी है, रूपपुरी।'

'उस रमणीय नगरी से मैं परिचित हूं!'

'समाचार आया है कि वहां मेरे विश्वस्त गुप्तचर कृष्णगुप्त का निर्मम वध कर दिया गया। हत्यारे अज्ञात हैं।'

'क्या? गुप्तचर शिरोमणि कृष्णगुप्त की हत्या?'

'हां मिश्र जी! रूपपुरी के शासक सामन्त वीरसेन ने इसी आशय का समाचार भेजा है कृष्णगुप्त ने वहाँ श्रेष्ठि धनराज के नाम से अपने आपको प्रसिद्ध किया था। उत्कल जाने वाले यात्रियों से वह हुन्डी व्यापार किया करते थे।'

'समाचार सचमुच दुःखदायी है, महामंत्री। आप मुझे आज्ञा प्रदान करें। ईश्वर की अनुकम्पा और गुरु की कृपा से हत्यारों को खोजने में विलम्ब नहीं होगा।'

'हत्यारे की खोज का प्रश्न गौण है, मिश्र जी। सम्भवतः हत्यारे उत्कल के होंगे और अपना काम करके सीमा पार कर गये होंगे।'

'हत्यारे हत्या करके अगर नरक में भी चले गये होंगे, तब भी गुरु की कृपा से मैं उन्हें खोज निकालूँगा। महामंत्री जी, आप विश्वास रक्खें।'

'परन्तु मिश्र जी, मुख्य प्रश्न यह है कि कृष्णगुप्त की मृत्यु के बाद सीमा की देख-रेख का काम कौन सँभाले? इस गुप्तचर कर्तव्य

का भार मैं आप पर डालने आया हूं। हम बलवान हैं, इसलिये उत्कल चुप है, परन्तु उसकी गिद्ध-दृष्टि से एक क्षण के लिये भी पाटलिपुत्र का वैभव ओझल नहीं होता। उसके गुप्तचर सक्रिय हैं, मेरा ऐसा संदेह है।'

'महामंत्री जी यदि मुझे आज्ञा देंगे तो मैं सहर्ष पालन करूँगा! मैं प्रत्येक क्षण सीमा-यात्रा के लिए प्रस्तुत हूं।'

'धन्यवाद मिश्र जी, परन्तु मैं एक रहस्य तुम पर और प्रकट करना चाहता हूं। वह—कि वहां तुम महाराज समरसेन के निजी गुप्तचर होगे। सारा काम तुम्हें अपने बूते पर करना होगा। तुम्हें न केवल सीमा पर दृष्टि रखनी होगी साथ ही सीमा के शासक पर भी तुम्हारी दृष्टि टिकी रहनी चाहिये।'

'आपका संकेत सम्भवतः वीरसेन की ओर है, परन्तु सन्देह का कारण क्या है, यह मैं भी नहीं जानता।'

'मैंने तो सुना है कि सामन्त वीरसेन महाराज के चचेरे भाई हैं।'

'यह सही है। मैंने यह भी देखा है कि वीरसेन महाराज का जितना आदर करता है वह अगाध है। महाराज पर उसकी इतनी श्रद्धा है कि उसने यवन शिल्पकार यूमयीस को पांच सौ स्वर्ण मुद्रा देकर महाराज की काँसे की मूर्ति ढलवाकर अपने महल में प्रतिष्ठित की है। रही महाराज की बात, सो वह भी वीरसेन पर सगे भाई के समान स्नेह रखते हैं। परन्तु अपनी बुद्धि को क्या कहूं जो वीर सेन की राज्य भक्ति पर विश्वास नहीं कर पाती।'

'क्या स्वर्गीय कृष्णगुप्त ने कभी इस आशय का कोई संकेत आपको दिया था?'

'नहीं, कभी नहीं। कोई नहीं कहता—केवल मेरा मन कहता

है कि वीरसेन राज्य भक्त नहीं है। मेरे अनुमान की सत्यता अथवा असत्यता की परख कर सकोगे?'

'चेष्टा करूँगा, महामंत्री।'

'यह बात केवल मेरे और तुम्हारे बीच है, कृष्णगुप्त अब इस संसार में रहा नहीं। तुमसे कहता हूं, अगर मेरा अनुमान झूठ निकला तो मैं महामंत्री का पद स्वेच्छा से त्याग कर वानप्रस्थ ले लूँगा।'

'ऐसा क्यों?'

'यह अनुमान इस बात की परख है कि मैं महामंत्री होने योग्य हूं अथवा नहीं, तो तुम कब रूपपुरी प्रस्थान कर रहे हो?'

'आज्ञा हो तो इसी क्षण।'

'नहीं, प्रातःकाल। एक ओर मैं राज्य छोड़कर कर्नाटक की ओर प्रस्थान करूँगा। दूसरी ओर तुम मेरी अनुपस्थिति में पाटलिपुत्र राज्य की सुरक्षा का भार अपने ऊपर लाद कर रूपपुरी की ओर प्रस्थान करोगे।'

'जो आज्ञा।'

महामंत्री अविनाश आसन छोड़कर उठते हुये बोले—'कार्य कठिन है, शंकर मिश्र के रूप में तुम कभी अपने आपको प्रकट नहीं करोगे।'

'मैं महामंत्री के कथन का आशय समझता हूं।'

'तुम पर किसी प्रकार का दबाव नहीं है, मिश्र जी, चाहो तो इस कार्य को अस्वीकार कर दो।'

'ऐसा न कहें महामंत्री, आप मेरे आश्रयदाता हैं, अगर मैं आपके किसी भी काम आ सका तो अपने आपको धन्य समझूँगा।'

'द्रव्य के अतिरिक्त और कोई सहायता इस कार्य में तुम्हें

नहीं दे सकूँगा। जितने धन की आवश्यकता हो प्रातःकाल आकर ले लेना।'

'धन्यवाद महामंत्री। गुप्तचरों का कार्य धन के बिना नहीं रुका रहता। जब और जहाँ आवश्यकता होगी, मैं धन प्राप्त कर लूँगा।'

महामंत्री अविनाश चले गये।

और शंकर मिश्र की शेष रात्रि तैयारियों में बीती।

प्रातःकाल—

पाँच सहस्त्र सैनिक योद्धाओं के दल सहित महामंत्री अविनाश जब पाटलिपुत्र के मुख्य द्वार से बाहर आये तो मार्ग के बीच आकर एक संन्यासी ने उनके रथ को रोक दिया। बेधड़क होकर संन्यासी ने दोनों घोड़ों की रास पकड़ कर कहा—'सुन मंत्री अविनाश, ऐसे मत जा!'

महामंत्री इस संन्यासी को देखकर स्तंभित हो गये। संन्यासी की बिखरी हुई जटायें, और हवा में फहराती हुई दाढ़ी, सन जैसी सफेद थी। आंखें जलते हुए अँगारों की भांति तेजपूर्ण—और मुख-मण्डल गम्भीर था।

इस तेजपूर्ण संन्यासी को देखकर महामंत्री तुरन्त रथ से उतर पड़, और हाथ बांध कर बोले—'आज्ञा हो संन्यासी जी।'

'ऐसे मत जा मंत्री, अपने और अपने राज्य के ग्रह देख। बृहस्पति छुप गया है, मंगल का प्रभाव मद्धिम पड़ गया है। तुझ पर, तेरे राज्य पर शनि ने अपनी दृष्टि गड़ा रक्खी है।'

'परन्तु महाराज, यात्रा का मुहूर्त तो राज-ज्योतिषी ने निकाला है।'

'मूर्ख है राज ज्योतिषी।' गरजकर संन्यासी ने कहा।

महामंत्री का हृदय कांप उठा।

'फिर क्या आज्ञा है?'

'शनि को शान्त कर।'

'कैसे संन्यासी जी?'

'पांच सहस्त्र स्वर्ण मुद्रा का किसी को दान कर।'

'जो आज्ञा, क्या, आप दान ग्रहण करने की कृपा करेंगे संन्यासी जी?'

'करूँगा—तेरे लिए, पाटलिपुत्र के महाराज के लिए, और पाटलिपुत्र की प्रजा के लिए दान ग्रहण करने वाले के रोम-रोम को जला देने वाले इस दान को भी ग्रहण करूँगा! ला···'

मार्ग से अलग हटकर संन्यासी एक झाड़ी के निकट पालथी मारकर बैठ गया।

यात्रा-सचिव ने पाँच सहस्त्र स्वर्ण मुद्रा की थैली, महामंत्री अविनाश को थमा दी संन्यासी के निकट जाकर महामंत्री ने थैली संन्यासी की ओर बढ़ाते हुये कहा—'कृपा कर ग्रहण करें संन्यासी जी।'

'ओम् नमो शिवाय···मंत्री, क्या अनर्थ करता है? क्या मुझे भस्म करेगा? मुखसे उच्चारण कर—'श्री शनिदेवाय समर्पितः···' और डाल दे इस द्रव्य को इस झाड़ी में।'

महामंत्री ने आदेश का पालन किया।

'ओम शान्तिः शान्तिः!' झोली में से लोहे की एक डिबिया निकाल कर महामंत्री के हाथ में थमाते हुये संन्यासी ने कहा—'ले मंत्री, यह महासिद्ध और पूर्णता प्राप्त गुरुदेव चंडिकेश की धूनी की राख है! डाल दे द्रव्य के ऊपर, खोलकर उलट दे सारी भस्म ···शनि का प्रकोप भस्म हो जायेगा···।'

ढक्कन खोलकर जैसे ही झाड़ी में पड़ी थैली पर महामंत्री ने वह राख उलटी—झाड़ी से लपटें उठीं और झाड़ी क्षणमात्र में जल उठी।

'सैनिक, महामन्त्री का यात्रा सचिव आदि चौंक कर पीछे हट गये। संन्यासी ने उठकर महामन्त्री की कलाई पकड़ी और आकाश की ओर दूसरा हाथ उठाकर अन्य सैनिकों से अलग खींचकर ले जाते हुए कहा—'देख मन्त्री, ज्ञानचक्षु खोल कर देख—शनि ने तेरी ओर से पीठ मोड़ ली है ! जा, तेरा कल्याण होगा !' संन्यासी लगभग बीस कदम आगे जाकर आश्चर्यजनक ढंग से स्वर बदलकर बोला—'पहचाना महामन्त्री ?'

महामन्त्री ने केवल स्वर पहचाना। दिग्मूढ़ की भांति उन्होंने संन्यासी के चेहरे को देखते हुये कहा—'तुम मिश्र जी तो प्रतीत नहीं होते ?'

'मैं संन्यासी हूं। विश्वानन्द संन्यासी···शंकर मिश्र कदापि नहीं हूं। यात्रा में विघ्न डाला, क्षमा कीजियेगा। यात्रा खर्च की किसी से तो बोहनी करनी थी, सो तुम जैसा साहूकार भला आस-पास कौन मिलता ?'

गद्‌गद् होकर महामन्त्री ने हाथ जोड़कर कहा—'प्रणाम करता हूं संन्यासी !'

'आयुष्मान् हो मन्त्री। ईश्वर तुम्हारी कर्नाटक—और मेरी रूपपुरी यात्रा सफल करे !'

शंकर मिश्र ने रूपपुरी पहुंच कर विश्वानन्द संन्यासी के रूप में अपनी धूनी लगा दी।

रूपपुरी छोटी-सी व्यापारियों की नगरी थी। सम्पन्नता वहां पाटलिपुत्र से भी अधिक थी। सीमान्त नगरी होने के कारण व्यापारी व्यापार में चांदी लगाते थे और सोना कमाते थे।

खुले मैदान में धूनी लगी थी, धूनी लगाने से पूर्व मिश्र जी ने खूब अनाज बिखेर दिया था—फल स्वरूप प्रातःकाल नागरिकों ने देखा कि बीच में विशाल तेज वाला संन्यासी तप कर रहा है और ढेरों पक्षी समूह दाना चुग रहा है ! एक विचित्र दृश्य था, धर्म-प्राण प्रजा में श्रद्धा जगी।

एक श्रद्धालु धनी व्यापारी की स्त्री शिवालय से लौटते समय

संन्यासी के लिये कुछ खाद्य पदार्थ ले आई। हाथ जोड़कर विनती की—'महाराज प्रसादी ग्रहण करें !'

संन्यासी ने स्त्री की ओर देखा, फिर प्रसादी की ओर—'तेरा कल्याण होगा देवी, भोलेनाथ तेरी मनोकामना पूरी करेंगे···परन्तु जो अन्न ग्रहण करे वह संन्यासी नहीं, ढोंगी होता है। खिला—आकाश में विचरने वाले इन जीवों को खिला—इनकी आशीश ले आता !'

खाने की थाली उठाकर खाने की वस्तुएं संन्यासी ने पक्षी समूह की ओर फेंक दी।

साधारण सी बात की नगर भर में चर्चा फैल गई।

सांझ के समय अनेक श्रद्धालु भक्तों के बीच तपते हुये संन्यासी ने बेल-पत्रों का आहार किया।

नगर में चर्चा बढ़ी, संन्यासी केवल बेलपत्रों का आहार लेता है।

और अगले दिन—

अभी सूर्योदय नहीं हुआ था—परन्तु मिश्र जी स्नान आदि से निवृत्त हो, भस्म रमा, धूनी पर विराज चुके थे।

दूर मार्ग पर एक रथ आकर रुका।

संन्यासी ने समाधि का ढोंग आरम्भ किया, तनकर बैठते हुये आँखें मूंद लीं।

पायल की खनक वातावरण में फैल गई। आगन्तुक कोई स्त्री थी। कुछ क्षण बाद मिश्र जी को लगा—मानो किसी ने उनके चरण स्पर्श किये हों।

'शरणागत हूं महाराज।' मधुर कंठ ध्वनि मिश्र जी ने सुनी।

मिश्र जी ने आंखें खोलीं। रूप शृंगार से सँवरा हुआ था, नेत्र

चंचल थे। निश्चय ही आगन्तुका वेश्या थी—जो दो रक्षकों सहित कोई अभिलाषा लेकर आई थी।

'शरणागत हूं महाराज।' वेश्या ने फिर कहा।

विचित्र भाव से संन्यासी ने उस स्त्री तथा उसके रक्षकों पर दृष्टिपात किया और फिर विक्षिप्त की भाँति ठठाकर हँस दिया।

स्त्री और उसके साथी अवाक् संन्यासी को देखते रह गए।

'किसकी शरण आई मूर्खा ? मुझ क्षुद्र मानव की। हम दोनों निर्बल हैं पुत्री, दोनों स्वार्थी हैं। तू इस लोक के सुख के लिए रूप की, स्वर की और कला की हाट लगाती है ? मैं परलोक के सुख की मृगतृष्णा के पीछे दौड़ रहा हूं। हम दोनों क्षुद्र हैं, स्वार्थी हैं। रूप गौण है, तप में छल और भक्ति स्वार्थ साधने का एक साधन है—जा बेटी जा, मनुष्य से मांगने से आत्मा को सन्तोष नहीं मिलता। भगवान को रिझा—जा बेटी जा।'

'आप सर्वशक्तिमान् हैं, महाराज !'

'ईर्ष्या छोड़ दे, बेटी—जा, संसार तो नश्वर है। यहां के दुःख-सुख तो धूप-छाँव के समान क्षणिक हैं।' मिश्र ने अँधेरे में तीर छोड़ा।

'ईश्वर का दिया हुआ जीवन भी जीना ही होगा, महाराज—जीवन के लिए न्याय मांगना तो अपराध नहीं।'

'तो बेटी, राजा से जाकर न्याय माँग ?'

'राजा से न्याय मिलने की आशा नहीं है, महाराज।'

'तब धीरज और भगवान पर विश्वास रख···।'

'बड़ी आशा लेकर आई थी, महाराज, सामन्त वीरसेन ने मुझ अबला के साथ विश्वासघात किया है !'

'छिः मानवी, बुरे विचारों को मन से निकाल दे। देखा नहीं,

परन्तु सामन्त वीरसेन से मैं अपरिचित नहीं हूं वह पुण्यात्मा है—आकाश के नक्षत्र सूचित करते हैं कि वह सम्राट बनेगा। जा, तेरे हृदय की भाषा कहती है कि तुझे वीरसेन से प्यार है; जा बेटी, वीरसेन कोई गैर नहीं, तेरा सगा है! उसका हृदय प्रेममय है, जा उसे अपने अनुराग से भर दे···जा बेटी जा···।'

'और संन्यासी ने फिर चिन्तन की मुद्रा में आंखें मूंद लीं।

स्त्री अपने अनुचरों सहित चली गई।

संन्यासी के हृदय में बैठा हुआ गुप्तचर सोच रहा था कि यह स्त्री कौन हो सकती है? क्या कोई वेश्या, अगर वेश्या थी तो फिर वीरसेन से कैसी शिकायत? हो सकता है कि कोई उच्चकोटि की वेश्या हो और वीरसेन ने इससे कोई वायदा करके तोड़ दिया हो तब भी—मिश्र जी ने सोचा उनका उत्तर ठीक ही था। वेश्या की सहानुभूति पाकर ही कौन-सा काम बन जाता जो अब नहीं बना?

इसके विपरीत यह वीरसेन की गुप्तचर भी हो सकती है! अगर सचमुच ऐसा है तब सचमुच वीरसेन चतुर व्यक्ति है—अत्यन्त चतुर शासक।

और फिर दिन चढ़ते ही श्रद्धालु व्यक्तियों का आगमन आरंभ हो गया। दो दिन में ही संन्यासी की ख्याति पूरे नगर में फैल गई।

सांझ हुई, फिर रात को कालिमा सम्पूर्ण नगर पर छा गई।

धीरे-धीरे श्रद्धालु भक्त जन चले गये—

और तब।

मार्ग पर एक रथ आकर रुका। रथ को चारों ओर से अश्वारोही सैनिक घेरे हुये थे।

संन्यासी ने पुनः आँखें मूंद लीं।

दौड़ते हुए दो सैनिक आये। संन्यासी के निकट आकर कहा—'महाबली महावीर सामन्त वीरसेन जी पधार रहे हैं!'

परन्तु संन्यासी की समाधि अटल रही!

कुछ क्षण बाद एक नम्र स्वर सुनाई दिया—'मैं आशीर्वाद प्राप्त करने आया हूं, योगिराज—मैं रूपपुरी सामन्त वीरसेन श्री चरणों में प्रणाम करता हूं!'

संन्यासी ने आंखें खोलीं। धूनी के मद्धिम प्रकाश में संन्यासी की आंखें दो सुलगते हुए अँगारों के समान लगती थीं।

'तू···हट जा, हट जा मेरे सामने से। तू नीच व्यक्ति है···तेरी छाया भी दूषित है। जा चला जा।'

वीरसेन और भी नम्र हुआ—'आशीर्वाद दें योगिराज। वीरसेन कृतघ्न है, फिर भी आपसे दया का याचक है।'

'तू झूठा है, लम्पट है—परन्तु नक्षत्रों का योग बलवान् है, जा तू सम्राट है। जा मूर्ख जा, तेरे पूर्व जन्म के पुण्य फलित होने के लिए तेरे कृत्य की परीक्षा कर रहे हैं। कर्म कर, फल निश्चित है।'

वीरसेन का माथा श्रद्धा से झुक गया—'आज्ञा हो योगीराज! धूनी पर छाया नहीं है। कुछ ही दिन लगेंगे, एक जलाशय, एक शिवाला और एक छोटी-सी बगिया इसी स्थान पर बनाने को तत्पर हूं।'

'नीच संन्यासी को माया में बांधना चाहता है? भोलेनाथ ने मुक्ति देने से पहले एक परीक्षा चाही थी। आराण्य छोड़ बस्ती में आ पड़ा—लो, तू मेरी परीक्षा लेगा—तू क्षुद्र मानव···!'

'नहीं योगिराज, सेवक तो बस सेवा का अवसर चाहता है!'

'नीच, मुझे ठगना चाहता है ? तेरी बस्ती में धूनी रमाई तो तूने और तेरे चरों ने ही मुझे सर्वाधिक कष्ट दिया ।'

'क्षमा हो देव, आप तो त्रिकालदर्शी हैं । राज-काज में कुछ कृत्य अप्रिय होने पर भी आवश्यक होते हैं, मैं तो क्षुद्र मानव हूं, देव ! मेरी कामना स्वीकार कर लीजिए—जब तक वह धूनी स्थान आपकी प्रतिष्ठा के अनुकूल निर्मित न हो जाये तब तक महाराज के श्रीचरण महल की बगिया में पधारें ।'

'संन्यासी को अपने कोप का भाजन मत बना, सामंत । स्पष्ट कह, अगर तेरी नगरी में मेरे लिये स्थान न हो तो कहीं और खोज लूंगा ।'

'मुझे नरक में मत घसीटिये देव, सेवक की अभिलाषा केवल इतनी ही है कि कुछ सेवा का अवसर मिले !'

'तू स्वार्थी है ।'

'देव का दासानुदास हूं ।'

'सुन, मैं प्रातः होने से पूर्व तेरी नगरी में धूनी शीतल कर दूंगा । कहता हूं सुन, अब इस नगरी में अनाचार होंगे, पाप होंगे और एक बार प्रजा पीड़ा से कराह उठेगी । हृदय को कठोर बना, दृढ़ निश्चयी बन और कर्तव्य कर, परिणाम प्रस्तुत होते हैं । अपने हाथ की रेखाओं को देख—तू सम्राट है ।'

'परन्तु देव···आप जा नहीं सकेंगे !' वीरसेन ने संन्यासी के पांव पकड़ लिये—'जब तक आपकी भविष्यवाणी पूर्ण न हो तब तक कृपा का बन्द हस्त इस सेवक पर रखिये !'

'हट मूर्ख, मेरे पांव छोड़ । अगर नियति का चक्र तेरे विपरीत होता तो क्या मैं उसे रोक देता ?—यह तो नक्षत्रों और ग्रहों का खेल है ! तू सम्राट बनेगा, बस । और···।'

'आज्ञा, देव ?'

'कर्तव्य की दिशा में कोई भी कार्य बृहस्पतिवार को आरम्भ करना !'

'ऐसा ही होगा देव, परन्तु आप ?'

'और सुन, एक सुयोग की प्रतीक्षा करना । सागर के तीर कटक की महानगरी से किसी आने वाली युवती की प्रतीक्षा में महारानी का स्थान रिक्त रखना । उसकी कोख शुभ होगी, तेरी ग्यारह पीढ़ियाँ चक्रवर्ती सम्राट का सुख भोगेंगी !'

श्रद्धा से वीरसेन ने अपना माथा भूमि पर टिका दिया !

'नम्र मत बन—नम्रता तेरे मार्ग में बाधा है । कठोर बन, बिसार दे दया और ममता को—अपना लक्ष्य पूरा कर !' संन्यासी उठकर खड़ा हो गया ।

'देव आप ?' अचकचाते हुए वीरसेन ने पूछा ।

'मूर्ख, मेरे मार्ग में बाधा मत बन, नियति का चक्र तेरे पूर्व जन्म के पुण्यों से प्रभावित है । तू संसारी है, प्रकृति से दुष्ट और हृदय से स्वार्थी है । मैं संन्यासी हूं—मुक्ति के लिये हठयोग धारण किया है । हमारे मार्ग एक-दूसरे से विपरीत हैं—तू अपने मार्ग जा—मेरे मार्ग में बाधक मत बन ।'

संन्यासी झुका, चिमटा हाथ में उठाया, झोली कन्धे पर डाली और फिर कमंडल उठाकर जल धूनी पर उलट दिया ।

अपना रौद्र मुख उठाकर संन्यासी ने फिर कहा—'एक संयोग था जो टाला नहीं जा सकता था । भाग्य में था एक बार तेरे साथ यात्रा का योग, आज वह पूर्ण होगा—आ नदी के तट तक मेरे साथ चल ।'

वीरसेन इस सिद्ध संन्यासी का क्षणमात्र में अनुचर बन गया

इच्छा होने पर भी वह कुछ नहीं बोला। चुपचाप संन्यासी के साथ चल पड़ा।

युवा सामन्त वीरसेन को दो कोस संन्यासी के साथ पैदल चलना पड़ा। अर्ध रात्रि हो गई—नदी तट सुनसान था।

'अच्छा वीरसेन···मेरी बातें याद रखेगा न?'

'सदा याद रक्खूँगा, देव।'

'जय कैलाशपति, जय गुरुदेव शरणागत हूं।'

संन्यासी ने जल में प्रवेश किया, और क्षण-क्षण अनन्त जल में समाता चला गया।

विस्मित था वीरसेन, उसके सैनिकों ने चमत्कार देखा। संन्यासी जल में प्रवेश करने के बाद फिर ऊपर नहीं आया।

जल पर आँखें फैल गईं। किन्तु व्यर्थ···धारा शान्त थी। मानो इस नदी ने मेनका बनकर विश्वामित्र को सदा के लिये अपने वक्ष में छुपा लिया हो।

पुलकित मन से सामन्त वीरसेन महलों में लौटा। उसने अपने विश्वस्त सैनिकों को चेतावनी दी— किसी की जबान पर संन्यासी से भेंट और वार्तालाप के विषय में एक शब्द भी न निकले।'

उत्कल और पाटलिपुत्र की सीमा रेखा जो पाटलिपुत्र राज्य को दक्षिण पूर्व में उत्कल से पृथक् करती थी—यह मृदुलावती नदी थी, जिसका आज काल ने वहाँ चिन्ह भी नहीं छोड़ा।

वीरसेन को संन्यासी का चमत्कार दिखाने के लिये शंकर मिश्र को एक कोस से अधिक नदी के तलमें श्वास रोककर बहना पड़ा। मिश्रजी की यह सिद्धि पुरानी थी, परन्तु बहुत दिनों से अभ्यास बन्द हो जाने के कारण हृदयगति तेज हो गई थी। वह उत्कल राज्य के तट पर नदी से निकले और चल सकने में असमर्थ होकर तट की रेत में ही लेट गये।

शनैः शनैः हृदय ने स्वस्थता प्राप्त की—फिर नींद आ गई। जब आँखें खुलीं तो मन और शरीर पूर्णतः स्वस्थ था।

पूरब में सूर्योदय हुआ।

संन्यासी की भूमिका समाप्त हो गई थी। मिश्र जी ने दाढ़ी और जटायें नोंच फेंकी। वस्त्र नहीं थे—इसलिये वेश साधु का ही रहा। एक बार अपनी झोली टटोल कर मिश्र जी ने अपने धन और आवश्यक वस्तुओं की जाँच की और फिर जो वस्तुयें भीग कर व्यर्थ हो गई थीं उन्हें फेंककर पुनः किनारे-किनारे मृदुलावती के उन घाटों की ओर चल दिये जो नावों से रूपपुरी के तट को उत्कल राज्य से मिलाते थे।

विचित्रता कौतूहल उत्पन्न करती है, और कौतूहल से व्यक्ति प्रभावित होता है। उसी उद्देश्य से राह में जब एक नाग मिश्र जी को डसने के लिए झपटा तो उसे मिश्र जी ने समाप्त नहीं किया—वरन् उसका फन हाथ के अँगूठे और उँगली में दाबकर राह का साथी बना लिया। नाग देवता बेबस होकर मिश्र जी की कलाई से लिपटते हुये कुहनी तक जा पहुंचे।

घाट पर दूर से ही चहल पहल दिखाई दे रही थी। रात्रि में आने वाले व्यापारी दलों के तम्बू नदी के तट पर लगे हुये थे, नावों पर लदान आरम्भ हो गया था।

प्रभाव जमाने का अवसर मिश्र जी चूकने वाले नहीं थे, घाट के निकट पहुंच कर वह ऊँचे स्वर में गीता के इन श्लोकों का पाठ करने लगे—

सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तमः प्रमादे संजयत्युत॥
रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत।
रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्वं रजस्तथा॥

'योगी, ठहरो।' स्त्री कंठ सुनकर मिश्र जी ने नदी की ओर देखा।

दो षोड़सी कुमारी, पीत कंचुकि एवं शुभ्र-हंस-पंखों के समान रेशमी परिधान धारण किये जल में से पुकार रही थीं। भीगने के कारण कुमारियों के वस्त्र शरीर से चिपटे हुये थे। मुख मंडल जल के प्रभाव से सूर्य किरणों में दीप्तिमान था।

'अहा, धन्य है।' मिश्र जी गद्गद् होकर बोले—'क्या मैं पाटलिपुत्र और उत्कल को जीवनदान देने वाली नदी मृदुलावती के दर्शन कर रहा हूं? कृपा कर बताइये कि आप दोनों में से माता मृदुलावती कौन हैं?'

यह बात सुन कर दोनों राजकुमारियां बरबस ही मुस्करा दीं। एक बोली—'योगी महाराज, आपको निराश करने का हमें खेद है। हम दोनों में से मृदुलावती कोई नहीं है, मैं मुक्ता हूं और यह चपला है। हम दोनों राजकुमारी रत्नमालिका की दासी हैं। यह नाग बेचोगे?'

'नाग बेचूँगा?' मिश्र जी यह बात सुनकर चकित हुये—'कुमारियों, क्या मैं तुम्हें वेश से व्यापारी प्रतीत होता हूं?'

'वेश से क्या होता है? नाग तुम्हारे पास है बेच दो। चार रजत मुद्रा मिल जायेंगी।'

'इस जानलेवा सर्प का तुम्हारे लिये भला क्या उपयोग है?'

'हमारी राजकुमारी नाग की उपासिका हैं।'

'आज तक तो ऐसा सुना नहीं कि किसी राजवंश की राजकुमार का आराध्य नाग बना हो? कौन-सा देश है तुम्हारी राजकुमारी का?'

'कामरूप।'

'तब ठीक है—तीन लोक में मथुरा न्यारी, कामरूप की सिद्धि प्यारी। अच्छा कुमारियों, नमस्कार।' मिश्र जी ने चलने का उपक्रम किया।

'अरे-अरे ठहरो, योगी···'मुक्ता और चपला जल से निकल पड़ीं और मिश्र जी के निकट आकर बोली—'इतनी-सी बात नहीं मानोगे, योगी ?—अच्छा, नाग की कीमत पाँच रजत मुद्रा ले लो।'

'बावली हुई हो, कुमारियों। इस विषधर को गुड़िया का खेल समझा है, मुझे मूर्ख बनाना चाहती हो ? अरे एक बार नहीं मैंने पाँच बार देखा है कामरूप। साक्षात् नाग कोई नहीं पूजता। तुम्हारी राजकुमारी अगर नाग ही पूजना चाहती है तो कहो नाग की स्वर्ण प्रतिमा बनवा लें।'

'तुम्हें इससे क्या सरोकार—चलो तुम्हें नाग की कीमत एक स्वर्ण मुद्रा मिलेगी।' मुक्ता बोली।

'एक हजार स्वर्ण मुद्रा भी नहीं लूंगा। विष और विषधर बेचना शास्त्रों के अनुसार पाप है।'

'अच्छा, एक बात तो मानोगे, हमारे शिविर तक चलो। वहाँ पुरुष भी हैं। उनसे बात कर लेना, फिर अगर इच्छा हो तो बेचना अन्यथा मत बेचना। दक्षिणा में अन्न और ताम्र मुद्रा हम दोनों तुम्हें अपनी ओर से देंगी।' चपला ने सुझाव दिया।

मिश्र जी ने सुझाव स्वीकार करलिया।

दोनों दासियाँ जिस शिविर की ओर मिश्र जी को ले गई वहाँ कामरूप का ध्वज लगा हुआ था। मिश्र जी को देखते ही एक साथ कई सैनिकों के मुँह से निकला—'नाग मिल गया···नाग मिल गया।'

दोनों दासी मिश्र जी को एक बूढ़े व्यक्ति के पास ले गईं, और चपला ने वृद्ध से कहा—'आर्य आशु—यह योगी नाग बेचने को तत्पर नहीं होते। हमने एक स्वर्ण मुद्रा तक मूल्य देने को कहा है।'

'बेच दो योगी, हमें नाग की आवश्यकता है।'

'आर्य, तुम्हारा सिर तो नहीं फिर गया ? तुम यह कहना चाहते हो कि तुम्हें मृत्यु की आवश्यकता है ?'

'हमें पूजा के लिये नाग चाहिये, और तुम्हें देना ही होगा। लो, यह दो स्वर्ण मुद्रायें।' वृद्ध ने दो स्वर्ण मुद्राएँ मिश्र जी की ओर बढ़ा दीं।

'मैं बैरागी हूं, धन का मोह मुझे नहीं है। भय अथवा त्रास देकर तुम मुझसे नाग ले सकोगे, ऐसी आशा मत करो। हाँ, एक शर्त पर मैं तुम्हें नाग दे सकता हूं।'

'बोलो, शर्त क्या है ?'

'शर्त यह है कि मैं तुम्हारे दावे की सच्चाई देखना चाहता हूं। तुम्हारी दासियों का दावा है कि तुम्हें नाग का इष्ट है, नाग तुम्हें नहीं डसेगा। मैं देखना चाहता हूं कि नाग तुम्हें कैसे नहीं डसेगा। छोड़ूं ?'

'ठहरो-ठहरो।' घबरा कर वृद्ध ने कहा—'नाग का इष्ट मुझे नहीं राजकुमारी जी को है। उन्हें सांप के काटे का जहर नहीं चढ़ता, चाहो तो अपनी आँखों से देख जाओ।'

'अवश्य देखूँगा। अगर जो तुम कहते हो वह सच है तो मैं उस देवयानी के चरणस्पर्श करके पुण्य लाभ करूँगा, जिसने नाग जैसे विषैले देवता को भी भक्ति से मोह लिया है।'

वृद्ध ने आदेश दिया—'मुक्ता, इस व्यक्ति को राजकुमारी के कक्ष में ले जाओ।'

चारों तरफ लगे सैनिकों के डेरों की पांत को पार करके मुक्ता और चपला मिश्र जी को पड़ाव के ठीक बीचोंबीच लगे डेरे में ले गईं। रंग-बिरंगे रेशम से बना हुआ डेरा सचमुच राजकुमारी की प्रतिष्ठा के अनुरूप था।

चपला मिश्र जी के निकट खड़ी रही। मुक्ता अन्दर गई और दूसरे ही क्षण तेजी से आकर बोली—'आओ योगी, भाग्यशाली हो। स्वभाव से राजकुमारी जी पुरुषों को अपने कक्ष में आने की कभी आज्ञा नहीं देतीं। तुम पहले पुरुष हो जिन्हें यात्रा में राजकुमारी के दर्शन का सौभाग्य मिला है। चलो, राजकुमारी ने तुम्हें बुलाया है।'

मिश्र जी ने डेरे में प्रवेश किया।

और राजकुमारी का रूप देखकर मिश्र जी हतप्रभ हो गये। ऐसा रूप, ऐसा अल्हड़ यौवन उन्होंने आजतक कभी नहीं देखा था। बहुमूल्य गलीचे पर वह कुमारी औंधी लेटी थी। वस्त्र अस्त-व्यस्त थे—अर्धनग्न राजकुमारी ने शरीर ढांपने का प्रयत्न भी नहीं किया। मिश्र जी की ओर मुख उठाकर मौन मुस्कान से उसने स्वागत किया। खुले हुये बालों की लटें गुंथ और गले तथा अधिकांश नग्न वक्ष पर इस प्रकार बिखर गईं जैसे चांद पर बदली।

ऐसा रूप कि मिश्र जी की आंखें पथरा गईं।

नंगी बांह आगे बढ़ी—ठिठक कर मिश्र जी एक कदम पीछे हट गये।

'आगे आओ, योगी आओ।' राजकुमारी के कंठ से संगीत जैसा मादक स्वर फूटा। मानो आदेश की अवहेलना असम्भव था। जैसे किसी ने पांव में जंजीर डालकर खींचा हो, यंत्रचालित से मिश्र जी आगे बढ़े।

'आओ योगी, और आगे आओ।' फिर झंकृत स्वर में आदेश मिला।

'मैं यथास्थान हूं राजकुमारी जी।' संकोच से मिश्र जी ने कहा।

'लाओ, सर्प हमें दे दो।'

'कौतूहल है राजकुमारी जी। धृष्टता की क्षमा चाहता हूं। नागदेव को इष्ट मानने वाले भी जीवित नाग की उपासना कभी नहीं करते।'

'वह उपासक नहीं ढोंगी होते हैं, योगी। लाओ सर्प हमें दो।'

राजकुमारी उठी और घुटनों के बल बैठ कर नाग को अपने हाथ में ले लिया।

मिश्र जी के कठोर अंगूठे के दबाव से मुक्त होते ही सर्प ने पूरी शक्ति से राजकुमारी की बांह में फन मारा। राजकुमारी के चेहरे पर मादक मुस्कान खेल गई। बांह पर जहां सर्प ने डसा था, रुधिर की पतली-सी रेखा तन से फूट पड़ी।

'धन्यवाद योगी।' सर्प को स्नेह से अपने गले में डालते हुये राजकुमारी ने कहा।

भय से मिश्रजी की जबान लड़खड़ा गई—'परिणाम···परिणाम···।' केवल इतना ही उनके मुख से निकला।

'परिणाम शुभ होगा, योगी। जहां अमृत होता है वहां कहीं विष भी छुपा होता है—इसी प्रकार इस विषधर में भी अमृत घट है, आराधना उसे पाती है। तुम भयभीत हो गये हो, भय त्याग दो योगी।' स्वर शान्त था, ध्वनि मार्मिक थी।

मिश्र जी के मन में द्वन्द्व था। किन्तु मुख पर अगाध भक्ति और श्रद्धा के भाव एकत्र कर के दोनों हाथ बांध कर वन्दना करते

हुये उन्होंने कहा—'आप मानवी नहीं राजकुमारी—आप में ईश्वरीय शक्ति का अंश है। धन्य हैं आप, जिस सिद्धि को आपने कौमार्य में ही पा लिया मैं उसे कई वर्ष वन और पर्वतों पर भटक कर भी नहीं पा सका। आप में मैंने साक्षात् मां पार्वती को देखा है—और आपके हृदय में समाये हैं साक्षात् शिव···प्रणाम स्वीकार हो देवि···ओम् नमो शिवाय!'

वन्दना की मुद्रा में मिश्र जी ने पीछे कदम हटाया। वह निरंतर यही जाप किये जा रहे थे—'ओम् नमो शिवाय!'

वह झुके और साष्टांग दंडवत करके कहा—'महाशक्ति, आशीर्वाद मिले।'

राजकुमारी ने पलक उठाये, मिश्र जी ने परिवर्तन देखा। मद-भरे नयनों में हल्की गुलाबी आभा स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही थी। मानो वासना से उन्मुक्त इस साधारण सुन्दरी कुमारी ने सुरापान किया हो।

'तुम्हारा कल्याण हो, योगी।'

मिश्र जी मन में विस्मय लिये डेरे से बाहर आये। वह वृद्ध व्यक्ति आशु अब भी अपने स्थान पर बैठा हुआ था।

'आपकी कृपा से मैं धन्य हुआ आर्य, राजकुमारी जी साक्षात महाशक्ति का रूप है।' वृद्ध के निकट जाकर मिश्र जी बोले।

'अरे! हां, यह लो दो स्वर्ण मुद्रा।' वृद्ध ने दो स्वर्ण मुद्रायें मिश्र जी की ओर बढ़ा दीं।

'नहीं आर्य—पुन्य पाया है, कोटिशः धन्यवाद। बहुत भ्रमण किया है। अब मानो मार्ग पा लिया है। मैं कटक में जाकर धूनी रमाऊंगा। क्या आशा करूं कि वहाँ पुनः दर्शन लाभ होंगे?'

'नहीं वैरागी, राजकुमारी जी पाटलिपुत्र के महाराज समरसेन

को मन, वचन और कर्म से पति मान कर जा रही हैं। आज सीमा पार करके जब भी सामन्त वीरसेन की आज्ञा होगी हमें पाटलिपुत्र के लिये कूच कर देना होगा। कौन जाने फिर कब लौटना हो?'

'मेरा दुर्भाग्य, तो आज्ञा है आर्य?'

'जाओगे कुछ भोजन पा कर जाना, अब भोजन में अधिक विलम्ब नहीं है।'

'धन्यवाद आर्य, बैरागी ठहरा, कई वर्ष से अन्न छोड़ दिया है, नमस्कार!'

उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना तेजी से मिश्र जी शिविर से बाहर आ गये। दूर एकान्त में जाकर एक बार फिर उन्होंने शिविर पर फहराती कामरूप की ध्वजा देखी और स्वयं अपने आपको सम्बोधित किया—'कामरूप नहीं—विष कन्या, वीरसेन और महाराज समरसेन···तुम धन्य हो महामन्त्री अविनाश।'

उत्कल की सीमा की ओर नदी मृदुलावती का तट नीचा था। फलस्वरूप यहाँ यात्रियों की आवश्यकता पूर्ति के लिए एक छोटी-सी हाट घाट पर थी। उत्कल का प्रथम सीमान्त नगर तट से लगभग दस कोस दूर था।

अब जो भी निश्चय हो, शीघ्र होना चाहिए था। एक पल की देरी भी सारी बाजी उलट सकती थी। मिश्र जी ने निश्चय किया कि उत्कल के सीमा नगर मधुपुर जाना ही होगा। घाट के अस्थाई हाट से उन्होंने कुछ वस्त्र खरीदे और घाट पर खड़े शीघ्र ही मधुपुर को जाने वाले एक सार्थवाहन में केवल तीन ताम्र मुद्रा देकर सवारी प्राप्त कर ली।

एक साधारण व्यक्ति के वेश में जब मिश्र जी ने मधुपुर के कोट में प्रवेश किया तब दोपहर हो चुका था। उसी वेश में उन्होंने एक सैनिक को भेंट स्वरूप कुछ रजत मुद्रा देकर मधुपुर के उच्चाधिकारी दुर्गपाल शिवचन्द्र से भेंट का तुरन्त प्रबन्ध कर लिया।

शिवचन्द्र एकान्त में मिश्र जी से मिला। ग्यारह स्वर्ण मुद्रा भेंट स्वरूप दुर्गपाल शिवचन्द्र की ओर बढ़ाकर मिश्र जी ने कहा—'मेरा नाम है धनंजय। सौराष्ट्र का वासी हूं। अरब के अश्वों का व्यापार करता हूं। कृपा-दृष्टि हो वीर शिरोमणि, पाटलिपुत्र में मेरे साथ अन्याय हुआ है।'

दुर्गपाल ने तीक्ष्ण दृष्टि से आगन्तुक को देखा—'पाटलिपुत्र में अन्याय हुआ, तो इसमें हमारा क्या बस है? यह उत्कल का सीमांत नगर है, श्रेष्ठि।'

'जानता हूं! परन्तु आर्य, नागरिक जीवन का आधार होता है—व्यापार। अगर लुटेरों से व्यापारियों की रक्षा करने वाले राजा ही स्वयं व्यापारियों को लूटने लगे तो व्यापार ठप्प हो जायेगा, श्रीमन्त। पाटलिपुत्र के मन्त्री ने मेरे समस्त अश्व राज्य-अश्वशाला में बँधवा लिए। लगभग तीन सौ की संख्या थी। मूल्य रूप में एक ताम्र मुद्रा भी नहीं दी। कह दिया कि अगले वर्ष आकर मूल्य लेना। यह तो लूट हुई।'

'मैं क्या कर सकता हूं? मुझे तुमसे सहानुभूति है। परन्तु यह मेरे अधिकार क्षेत्र से बाहर की बात है।'

'मैं जानता हूं, आर्य। ऐसी कोई बात मैं चाहता भी नहीं हूं जो असम्भव हो। मुझे अपने राजा और राज्य दोनों पर विश्वास है। सौराष्ट्र का वैभव व्यापारियों से बना है, फलस्वरूप राज्य की छत्रछाया सदा व्यापारियों पर रही है। तीन सौ अश्वों के मूल्य की कोई बात नहीं। केवल एक इच्छा है कि यह शिकायत सप्रमाण में अपने महाराज तक पहुंचा सकूं। आर्य, क्या सचमुच आज से पूर्व पाटलिपुत्र राज्य की आपाधापी के विषय में किसी व्यापारी ने आपसे शिकायत नहीं की ?'

'तुम शिकायत की बात करते हो ? मंत्री अविनाश की नीचता के कारण उत्कल के व्यापारियों का तो पाटलिपुत्र तक पहुंचना दूभर हो गया है।'

'तब तो श्रीमान मेरी शिकायत पर आपको विश्वास होगा ?'

'पूर्णतः विश्वास है, परन्तु यह बात मेरे वश से बाहर है।'

'आप इतनी कृपा करें कि इस आशय का एक स्मृति-पत्र सौराष्ट्र के महाराज के नाम लिख दें !'

'ओह, केवल इतनी सी बात……प्रहरी……।' दुर्गपाल ने पुकारा।

प्रहरी आकर उपस्थिति हुआ। दुर्गपाल ने उसके द्वारा अपने एक किरानी को बुलवाया और जैसा पत्र आगन्तुक चाहता था वैसा लिखवा कर अपने हस्ताक्षर कर दिए और निकट ही रखी स्वर्ण

पत्र से मण्डित मंजूसा में से अपनी मुहर निकाल कर उस रेशमी वस्त्र से बने पत्रक पर अंकित कर दी जिसके छोर पर लगी कलापूर्ण डन्डी चांदी की बनी हुई थी ! पत्र लपेट कर मिश्र जी की ओर बढ़ाते हुए दुर्गपाल ने पूछा—'सौराष्ट पहुंचने में तीन मास तो लग ही जायेंगे ?'

'इससे अधिक समय लगेगा, श्रीमान ! भिन्न २ राज्यों में लेन-देन इत्यादि हैं, उन्हें निपटाता हुआ जाऊंगा। साथ ही पाटलिपुत्र के अन्य सीमावर्ती राज्यों से इसी प्रकार के पत्र भी सौराष्ट्र दरबार में प्रस्तुत करने के लिये प्राप्त करने हैं।'

'तो तुम्हें सौराष्ट्र पहुंचने में तीन महीने से अधिक लगेंगे ?'

'हाँ श्रीमान।'

'क्यों व्यर्थ की परेशानी में पड़े हो ? कौन जाने तीन मास तक मंत्री अविनाश और राजा समरसेन ही न रहें ?' अर्थपूर्ण कूटनीतिक मुस्कान सहित दुर्गपाल ने कहा।

मिश्र जी को लगा मानो वह जिस उद्देश्य से यहाँ आये थे वह पूर्ण हो गया हो ! परन्तु शिष्ट मुस्कान सहित उन्होंने ऐसा भाव प्रदर्शित किया मानो केवल मनोविनोद के लिये यह बात कही गई हो—'यह सम्भव नहीं है श्रीमन्त। ईश्वर के यहां अच्छे आदमियों का न्याय शीघ्र और बुरे आदमियों का देर में होता है ! कौन जाने

पाटलिपुत्र के राजा और मन्त्री के पापों का घड़ा भरने में अभी कितना विलम्ब है ?'

'क्या ऐसी सम्भावना नहीं है कि पापों का घड़ा भर ही गया हो ?'

मिश्र जी ने दोनों हाथ ऊपर आसमान की ओर उठाकर प्रति-श्चित से मन से कहा—'ईश्वर दयालु है, वही अपने भक्तों का न्याय करता है, बहुत-बहुत धन्यवाद श्रीमन्त, मैं सदा आपका आभारी रहूंगा।'

दुर्गपाल से भेंट करके मिश्र जी हाट पहुंचे, बहुत-सी वस्तुयें क्रय कीं, उनमें एक बढ़िया अश्व भी था।

सन्यासी बनकर ढोंग रचाया हुआ था, फलस्वरूप कई दिन से मिश्र जी ने भली प्रकार भोजन भी नहीं किया था। चलने से पूर्व खूब डटकर भोजन करके मिश्र जी ने क्रय की हुई वस्तुयें अश्व पर लादीं और फिर मृदुलावती के घाट की ओर सरपट घोड़ा दौड़ा दिया।

राह में एक सुनसान देवालय था, वहां मिश्र जी रुके। अश्व को एक वृक्ष से बांधकर दीवार की ओट में बैठ गए और वेश बद-लना आरम्भ किया।

काली और सफेद हल्की सी दाढ़ी मुंह पर लगाई, सैनिक वस्त्र धारण किये और एक औषधि की मात्रा मुंह में डाल ली।

कुछ क्षण बाद ही औषधि का विचित्र प्रभाव हुआ। मिश्र जी का गौर वर्ण सांवला पड़ गया। होंठ, आंखों की पलकें आदि कुछ अलसा गईं। मिश्र जी ने जलाशय में अपना प्रतिबिम्ब निहारा और निश्चिन्त होकर उस पत्र को निकाला जो दुर्गपाल ने लिखवा कर दिया था।

पत्र के अक्षरों पर उन्होंने कोई पानी जैसा पदार्थ लगाना आरम्भ कर दिया, अक्षर लुप्त होने लगे और कुछ ही देर में उस रेशमी पत्र पर केवल दुर्गपाल के हस्ताक्षर और मोहर ही शेष रह गई।

पत्र को लपेट कर उन्होंने फिर उसे वस्त्रों में लपेट कर रख दिया और अश्व पर सवार होकर तेजी से घाट की ओर चल दिये।

घाट पर पहुंचे तो देखा कि कामरूप की ध्वजा वाला वह शिविर अब वहां नहीं था। यात्रियों की चहल-पहल कम हो गई थी। पाँच ताम्र मुद्रायें देकर मिश्र जी ने नौका में मृदुलावती पार की।

यह सांझ का समय था। नदी पार करके सामन्त वीरसेन के महल के ही द्वार पर रुके।

'प्रहरी, सामंत वीरसेन को सूचना दो कि कटक से एक व्यक्ति आवश्यक समाचार लेकर आया है।' इतना कहकर मिश्र जी ने एक रजत मुद्रा निकाल कर प्रहरी की हथेली पर रख दी।

'बस ?' अर्थ भरे स्वर में प्रहरी ने पूछा।

'एक और परन्तु काम होने पर।' मिश्र जी ने उत्तर दिया।

काम हो गया। कुछ देर बाद प्रहरी ने आकर स्वयं मिश्र जी को वीरसेन के निकट पहुंचा दिया। अपने निजी कक्ष में वीरसेन अकेला नहीं था। विष कन्या का संरक्षक वह वृद्ध व्यक्ति आशु भी उसके पास था।

'क्या चाहते हो ?' मिश्र जी के अभिवादन के उत्तर में सत्ता भरे कर्कश स्वर में वीरसेन ने पूछा।

'आपको एक सन्देश देना है आर्य, परन्तु एकान्त में।'

'हूंऽऽ ! आशु, तुम जाओ, कमलकुन्ज में मैंने तुम्हें खूब सोच-समझ कर ठहराया है। रात की सुरक्षा के लिये मैं अपने सैनिक भी नियुक्त कर दूंगा। हठ मत करो, महाराज को मैं वृहस्पतिवार को आगमन का संदेश भेजूगा। उनकी रसिकता से मैं परिचित हूं, वह स्वयं यहाँ सूचना पाते ही पधारेंगे। हमारा काम यहाँ आसानी से निपट जायेगा।'

'परन्तु आप महाराज को संदेश आज क्यों नहीं भेज देते ?'

'फिर वही, दो ही दिन की तो बात है। व्यर्थ हठ से कोई लाभ नहीं। मैं संदेश बृहस्पतिवार को ही भेजूंगा।'

'जैसी आपकी इच्छा।' इच्छा के विपरीत वृद्ध आशु ने उठकर अभिवादन किया और कक्ष से बाहर चला गया।

'क्या कहना है तुम्हें ?'

'महामान्य, मुझे कटक दुर्ग के सेनानायक राव जगन्नाथ ने भेजा है।'

'सन्देश कहो।' रूखे स्वर में वीरसेन बोला।

'राव जगन्नाथ की सत्रह वर्षीय पुत्री पुष्पा ने हठ किया है महामान्य कि वह विवाह करेगी तो आपसे। कन्या के इस निश्चय से सेनानायक बड़ी विपत्ति में पड़ गये हैं !'

वीरसेन चौंका। दूसरे ही क्षण उसके मुख पर प्रसन्नता की आभा छा गई—'विपत्ति की क्या बात है ? हम उस सेनानायक की पुत्री से विवाह कर लेंगे।'

'परन्तु महाराज, विवाह इतना सुगम नहीं है। उत्कल महाराज के युवा राजकुमार उस कन्या पर आसक्त हैं। महाराज ने स्वय विवाह प्रस्ताव सेनानायक को भिजवाया है।'

'तब ?'

'और सेनानायक कन्या का विवाह आपसे करने को दृढ़-प्रतिज्ञ हैं। स्वप्न में उन्हें साक्षात् शिव ने दर्शन दिये हैं, उनका आदेश है कि वह कन्या का विवाह आपसे करें, केवल एक ही रास्ता है कि आपके सैनिक कटक जाकर कन्या को यहाँ ले आयें और विवाह

यहां सम्पन्न हो। परन्तु सैनिक विश्वस्त होने चाहिये, कन्या का कौमार्य उन्हीं सैनिकों में सुरक्षित रहना है।'

'क्या तुम्हारे सेनानायक के सैनिक कन्या को सीमा तक नहीं ला सकते ?'

'सैनिक राज्य के हैं महामान्य। सेनानायक राज्य के वेतन भोगी हैं। वह कोई स्वतन्त्र शासक तो है नहीं जो सैनिक को मन-चाहा आदेश दे सकें, अगर आपके सैनिक जाकर कन्या को ले आयेंगे तो वह यह बात प्रसिद्ध कर सकेंगे कि उनकी कन्या का हरण हो गया। फलस्वरूप वह महाराज के कोप भाजन बनने से रह जायेंगे।'

'तुम कुछ दिन के लिये अधिक से अधिक दस दिन के लिये मेरा आतिथ्य स्वीकार कर सकते हो ?'

'तुरन्त जाकर मुझे अपनी स्वामी को सूचना देनी होगी।'

'क्या सूचना दोगे उन्हें ? नहीं-नहीं, अभी तुम्हारा लौटना व्यर्थ है। कुछ दिन प्रतीक्षा करो। मैं स्वयं तुम्हारे साथ चलूंगा।'

'जो आज्ञा।'

'अभी कुछ व्यस्त हूं। प्रातःकाल मैं तुमसे पुनः मिलूंगा। तब फिर सेनानायक और उसकी कन्या के विषय में वार्तालाप करेंगे।

विश्वास रखो मैं अवश्य उस कन्या से विवाह करूंगा। हारे थके आये हो, अब विश्राम करो। द्वारपाल···?' वीरसेन ने पुकारा।

और उसने द्वारपाल को आदेश दिया—'इन सज्जन को अतिथिशाला में ले जाओ। अतिथिशाला के प्रधान भूदेव से कहना कि यह मेरे विशेष अतिथि हैं। इन्हें बढ़िया भोजन तथा अन्य सुविधायें दी जायें। अरे हां, तुम्हारा नाम क्या है ?'

'जी मुझे वचन कहते हैं।'

'वचन···सुबह सूर्योदय के समय मुझसे आकर मिलना।'

रात लगभग आधी बीत चुकी थी। रूपपुरी की रंगरेलियां समाप्त हो चुकी थीं। व्यापारी, नागरिकों और परदेशी महाजनों को सुरा ने व्याकुल अवश्य किया होगा, परन्तु सुन्दरियों की बांहों ने सुरा से उत्पन्न सारा जोश अपनी बांहों में जाने कब अनजाने ही समेट लिया था। अब न तो अट्टालिकाओं से गायन की मधुर ध्वनि आ रही थी न कला प्रवीण ललनाओं के सधे हुए पांवों से घुंघरुओं की झनकार।

पथ निर्जन और शांत था। वातावरण की उदासी को बेधती हुई कभी-कभी प्रहरियों की 'जागते रहो' की हांक अवश्य सुनाई दे जाती थी।

ऐसे ही वातावरण में वीरसेन अपने महल से बाहर निकला। परन्तु प्रमुख द्वार से नहीं। वह एक गुप्त द्वार से बाहर निकला जहां प्रहरी नियुक्त नहीं होता था।

वीरसेन इस समय साधारण सैनिक के वेश में था। गुप्त द्वार से निकल कर वह मृदलावती के तट की ओर पैदल ही चल दिया।

आश्चर्य की बात थी कि रूपपुरी का शासक और महाराज समरसेन का चचेरा भाई सामंत वीरसेन इस समय एक चोर की भांति नदी तट की ओर जा रहा था। जरा-सा आहट पाकर ही वह चौंक पड़ता था, और निरन्तर रुक-रुक कर इधर-उधर देखता हुआ चल रहा था।

नदी तट पर पहुंच कर उसने एक बंधी हुई डोंगी खोली और उसमें बैठकर बहाव की ओर ही चल दिया। उसने डोंगी में चप्पू होते हुए भी नदी पार करने की चेष्टा नहीं की।

परन्तु यहां तक छुप कर आने की, छुपे रहने की उसकी मनोकामना पूर्ण नहीं हुई। उसकी डोंगी के बहाव में पड़ने के कुछ ही क्षण बाद अंधेरे में से तट पर एक छाया प्रकट हुई और शनैः शनैः सावधानी से जल में समा गई।

वीरसेन अपने मन में निश्चिन्त था, नाव तेजी से बही चली जा रही थी। लगभग एक कोस डोंगी के निरन्तर बहने के बाद नदी

में एक बजरा दिखाई दिया, बजरा नदी की धारा में स्थिर था। सम्भवत: वह तट से बंधा हुआ था।

बजरे के निकट जाकर वीरसेन ने डोंगी बजरे से सटा दी, और तुरन्त ही बिना कुछ कहे सुने एक व्यक्ति ने डोंगी को बजरे से बांध दिया।

तब मशाल के हल्के से प्रकाश में एक अधेड़ व्यक्ति प्रगट हुआ वीरसेन ने झुककर प्रणाम किया—

'कहो समाप्त ?' अधेड़ व्यक्ति ने सत्तापूर्ण स्वर में कहा।

'विष कन्या आज रूपपुरी में आ गई है, महाराज।'

'तो क्या अभी तक आपने उसे रूपपुरी में ही टिका रखा है, पाटलिपुत्र नहीं भेजा ?'

'पाटलिपुत्र भेजने का इरादा भी नहीं है महाराज। मैं समरसेन को रूपपुरी ही बुलाऊंगा। यह ठीक है कि मंत्री अविनाश इस समय पाटलिपुत्र में नहीं है, परन्तु सेनापति रुद्रभानु तो वहीं हैं। समरसेन के मरने के बाद भी अगर हमारा मूल उद्देश्य पूरा नहीं हुआ तो हमें क्या लाभ होगा ?'

जैसे ही वीरसेन ने अपना वाक्य पूरा किया। एक रमणी बजरे का पर्दा हटाकर मशाल के प्रकाश में आई। रमणी की आयु लगभग पच्चीस वर्ष की थी, परन्तु थी असाधारण रूप सुन्दरी।

रमणी को देखकर वीरसेन मुस्कराया—'तो देवी चम्पावती भी उपस्थित हैं, नमस्कार।'

उत्तर में रमणी मुस्कराई—'अभी कुछ समय पहले मैं महाराज से तुम्हारी ही चर्चा कर रही थी सामन्त! क्षमा करना तुम वीरसेन होते हुए भी वीर नहीं हो। सीमांत के शासक होकर भी तुम मंत्री अविनाश और सेनापति रुद्रभानु से इतने भयभीत क्यों रहते हो? समरसेन के दिवंगत होने के बाद अविनाश अथवा रुद्रभानु कर क्या सकते हैं? राज्याभिषेक हर हालत में तुम्हारा ही तो होगा।'

'यह आवश्यक तो नहीं।'

'तुम ही तो राज्य के उत्तराधिकारी हो ?'

'तभी तक, जब तक कि मैं शक्तिशाली हूं। देवी चम्पावती राज्य सिंहासन न अविनाश को बुरा लगेगा न रुद्रभानु को।'

'तो इसका अर्थ यह हुआ कि तुम्हें महाराज के वचनों पर विश्वास नहीं है, अथवा महाराज की शक्ति पर विश्वास नहीं है। इनके एक इशारे से उत्कल की सेना पूरे पाटलिपुत्र को रौंदकर रख देगी।'

'मुझे विश्वास है, परन्तु मैं शक्ति भर यही प्रयत्न करूंगा कि रक्तपात न हो आप जानती हैं कि महाराज निःस्वार्थ मेरी सहा-

थता कर रहे हैं। इसलिये मेरा कर्तव्य हो जाता है कि मैं महाराज से केवल इतनी ही सहायता लूं जितनी कि नितांत आवश्यक हो।'

अधेड़ व्यक्ति ने दोनों की बातचीत में बाधा देते हुए कहा—'यह व्यर्थ की बातें हैं, वीरसेन। जब मैंने तुम्हें सहायता देने का वचन दिया है तो किसी भी परिस्थिति में भी मैं तुम्हारी सहायता करूंगा। आज मैंने तुम्हें यह सूचित करने के लिए बुलाया है कि मेरी सेनायें कूंच कर चुकी हैं। कल शाम तक वह मृदलावती के तट तक पहुंच जायेंगी। बस, तुम्हारे संकेत की प्रतीक्षा रहेगी, नदी पार करने में सेना को विलम्ब नहीं लगेगा।'

• 'धन्यवाद महाराज, मेरा निवेदन है कि जब तक मैं दूसरी सूचना न भेजूं तब तक सेनायें मधुपुर से आगे न आयें। समरसेन के मरने के बाद ही सेनाओं का नदी तट पर आना उचित रहेगा।'

'अच्छा, जैसी तुम्हारी इच्छा, हां एक सुझाव मेरा भी है।'

'आज्ञा दीजिये।' नम्रतापूर्वक वीरसेन ने कहा।

'तुम्हें अच्छे सलाहकारों की आवश्यकता है, चम्पावती कुछ दिन रूपपुरी में रहेगी।'

'यह तो मेरे लिये सौभाग्य की बात है।'

'तो कल शाम तक यह नर्तकी के रूप में घाट पर आकर उतरेंगी।'

'दिखावे मात्र के लिये इन्हें मेरे ठिकाने तक तो आना ही होगा, वसे मैं अतिथिशाला में इनके आवास का उत्तम प्रबन्ध तैयार रक्खूंगा।'

'अब तुम जा सकते हो। आशा है अब दूसरी भेंट तब होगी जब तुम पाटलिपुत्र के महाराज बन चुके होगे।'

मुग्ध होकर वीरसेन ने नमस्कार किया।

बजरे से उतर कर वीरसेन पुन: डोंगी में बैठ गया। मल्लाह ने डोंगी बजरे से खोल दी और भरी हुई नदी के तीर पर पहुंचने के लिये दोनों हाथों में सम्पूर्ण शक्ति केन्द्रित करके वीरसेन चप्पू चलाने लगा।

परन्तु डोंगी आश्चर्यजनक रूप से भारी प्रतीत हो रही थी। लगभग आधा कोस और बहने के बाद कठिनाई से वह डोंगी को किनारे लगा पाया। इस प्रयत्न में वह बुरी तरह हांफ गया और लड़खड़ाता हुआ डोंगी से कूद कर किनारे पर आकर शक्तिहीन रोगी पुरुष की भांति रेत पर कुछ क्षण विश्राम के लिए लेट गया।

नौका से लगभग पचास कदम दूर—

वह व्यक्ति जल से निकला—जो रूपपुरी के घाट से जल में

कूदा था। यह और कोई नहीं—स्वनामधन्य शंकर मिश्र ही थे।

जल से निकल कर मिश्र जी किनारे पर लगे वृक्षों के झुण्डों की ओर खिसक गये, ओट में जाकर उन्होंने अपने सम्पूर्ण गीले वस्त्र उतार डाले और कमर से बंधी एक चमड़े की थैली में से हाथी दांत की बनी एक छोटी-सी डिबिया में से कोई चूर्ण निकाला जिसे हथेली पर लेकर मिश्र जी ने बदन पर मलना आरम्भ कर दिया। जहां-जहाँ वह चूर्ण मल देते थे बदन वहीं से शीशे की भाँति चमकने लगता था। जब वह चूर्ण सम्पूर्ण शरीर पर मल लिया गया तब मिश्र जी उठे। इस निर्जन नदी तट के वातावरण में वे ऐसे दिखाई देने लगे, जैसे कि भीरु नागरिक प्रेत की कल्पना किया करते हैं। सब वस्त्र और चमड़े की थैली वहीं छोड़ मिश्र जी उछलते-कूदते उस स्थान पर पहुंचे जहाँ थका हुआ सामन्त लेटा हुआ था।

ठीक उसके निकट पहुंच कर वह चिल्लाये—'मानस गंध।'

चौंक कर वीरसेन उठा, परन्तु अपने सामने साक्षात् प्रेत को देखकर वह भय से कांपता हुआ लड़खड़ा कर पुन: गिर पड़ा।

'ही ही ही ही···हा हा हा हा। मानस-मानस ताजा भोजन···हा हा हा हा···भड़ुरिया प्रेत के इलाके में विश्राम करने आया है···ही ही ही ही ही···ताजा खून···हा हा हा···।'

भूत-प्रेत···एक ऐसी विचित्र मानव कल्पना है कि तलवार के

एक वार से एक साथ दस योद्धाओं के शीश उतार देने वाला वीर सेन भय से थर-थर कांप रहा था। उसने शुतुरमुर्ग की भाँति अपना मुख भूमि में गड़ा लिया था। कमर से तलवार बंधी थी परन्तु हाथ वन्दना की मुद्रा में जुड़े हुए थे।

चीत्कार करते हुए मिश्र जी फिर उछले और भय से गठरी बने हुये वीरसेन को पूरी शक्ति से उठा कर भमि पर पटक दिया।

'हाय !' वीरसेन चीख उठा।

अंधेरे में मिश्र जी ने इधर-उधर देखा। कुछ दूर पर एक नीचा वृक्ष दिखाई दिया। किलकारी मार कर वह जोर से उछले और वृक्ष की एक पतली-सी टहनी तोड़ने में सफल हो गए।

'ताजा खून !' वह फिर कूद कर भयभीत औंधे पड़े वीरसेन के निकट जा पहुंचे और उस लचकदार टहनी से नाच-नाच कर वीर सामन्त की पिटाई शुरू कर दी।

वीरसेन पीड़ा से कभी-कभी कराह तो उठता था परन्तु उठकर प्रेत से लड़े अथवा भाग खड़ा हो ऐसा साहस वह एकत्र नहीं कर पा रहा था।

मारते-मारते मिश्र जी के हाथ दुखने लगे, टहनी टूट गई, तब पैरों का सहारा लेकर जी भर कर मिश्र जी ने पिटाई की।

'उठ···खड़ा हो। कायर उठकर खड़ा हो।'

हाथ बांधे कांपता हुआ बड़ी मुश्किल से वीरसेन खड़ा हुआ। प्रेत का स्वर नम्र पाकर वह लड़खड़ाते से स्वर में बोला—'क्षमा···क्षमा करो देव। मैं कभी आपकी सीमा में नहीं आऊंगा··· जितनी मानव बलि चाहोगे, दूंगा।'

'तू देगा झूठा?'

दूंगा, हर रोज एक मानव बलि भी दूंगा—'मुझे क्षमा कर दो देव।'

मिश्र जी ने अट्टहास किया—'जा क्षमा किया। कूद जा नदी में।'

'नदी में?' वीरसेन ने नदी की ओर दृष्टिपात किया। डोंगी वहाँ नहीं थी। मृदुला की चंचल लहरें उसे बहा कर ले गई थीं। दूर डोंगी आंखों से ओझल हो चुकी थी।

'कूद जा नदी में।' मिश्र जी जोर से चीखे।

जान बचाने का और साधन न देख—प्रेत के भय से कांपता हुआ प्रेत को नमस्कार कर वीरसेन नदी में कूद पड़ा।

वीरसेन को मारना मिश्र जी का ध्येय नहीं था। जब उन्होंने देखा कि पानी में पहुंचते ही उसने कुशल तैराक की भांति हाथ पाँव चलाने आरम्भ कर दिए हैं तो वह निश्चिन्त हो गये कि कुछ दूर जाकर किनारा पा ही लेगा।

मिश्र जी ने स्वयं भी पानी में कूद कर स्नान किया। जब वह वह स्नान करके निकले तो उस चूर्ण का प्रभाव समाप्त हो चुका था।

जल से निकल उन्होंने फिर यही गीले वस्त्र पहने और चल दिये।

जब वह रूपपुरी की अतिथिशाला के निकट पहुंचे तो भोर होने में विलम्ब नहीं था। उनके कक्ष की खिड़की से वह रस्सी अभी तक लटक रही थी जिसके सहारे उतर कर वह वीरसेन के पीछे गये थे।

उसी के सहारे पुनः कक्ष में पहुंच कर मिश्र जी ने पुनः दाढ़ी चिपकाई और उसी औषधि का पुनः सेवन कर लिया जिससे प्रभाव से वह कटक के सेना नायक के विशेष दूत बन कर वीरसेन के पास पहुंचे थे।

कुछ देर विश्राम करके मिश्र जी वीरसेन के महल में पहुंचे। प्रहरी द्वारा सूचना भेजी कि कटक के सेना नायक का दूत वचन प्रणाम करने आया है। समाचार वीरसेन तक पहुंचा, और उत्तर मिला—'दूत महोदय आनन्द से रहें। सामन्त अस्वस्थ हैं, स्वस्थ होने पर भेंट करेंगे।'

मिश्र जी यह तो भली प्रकार जानते ही थे कि अभी एक-दो दिन सामन्त का स्वस्थ होना कठिन है। समय व्यर्थ गंवाना उचित नहीं था, अतिथिशाला पहुंचकर उन्होंने अपना घोड़ा कसा और अतिथिशाला के प्रबन्धक को बताया कि सामन्त ने किसी आवश्यक कार्य से उन्हें पाटिलपुत्र जाने की आज्ञा दी है। इसलिये…।

प्रात: के पहले पहर में ही मिश्र जी ने पाटिलपुत्र की दिशा में सरपट घोड़ा दौड़ा दिया।

सारा दिन घोड़े की पीठ पर ही बीता। दौड़ते-दौड़ते घोड़ा भी पसीने-पसीने हो गया। बड़ी कठिनता से रात्रि के समय नगर कोट का द्वार बन्द होने से कुछ क्षण पूर्व ही वह नगर में प्रवेश कर पाये।

पाटलिपुत्र के वहाँ सेनापति रुद्रभानु की हवेली के सामने मिश्र जी घोड़े से उतरे। कुछ देर की प्रतीक्षा के बाद सेनापति ने उन्हें भेंट के लिए बुलवा लिया।

मिश्र जी ने सेनापति को अपना परिचय दिया। उसके पश्चात् बताया कि किस कारण से मन्त्री अविनाश यात्रा से पूर्व उन्हें रूप-पुरी जाने का आदेश दे गये। इसके पश्चात् रूपपुरी के समस्त षड़यंत्रों का ब्यौरेवार वर्णन मिश्र जी ने सेनापति को दे दिया।

सेनापति रुद्रभानु की आयु लगभग सत्तर वर्ष की थी। केश और दाढ़ी सन जैसी सफेद थी। परन्तु डीलडौल और शक्ति में वह किसी भी नवयुवक के समान थे।

मिश्र जी की बातें सेनापति ने बड़े मनोयोग से सुनीं। कुछ क्षण वह मौन बैठे रहे, फिर शान्त स्वर में बोले—'महामन्त्री अवि-नाश की अनुपस्थिति ने बड़ी कठिनाई उत्पन्न कर दी है।'

'धृष्टता क्षमा करें, आय। क्या सम्पूर्ण स्थिति से महाराज को सूचित कर देना उचित नहीं होगा। महाराज अपने किसी भी विश्वस्त अधिकारी को भेज कर जाँच करा सकते हैं कि रूपपुरी के कमल कुंज वाले महल में विष कन्या है या नहीं। विष कन्या के प्रहरी गण जो अपने आपको कामरूप निवासी तथा विष कन्या को कामरूप की राजकुमारी रत्नमलिका कहते हैं—ऐसा झूठ है जिसे बड़ी सुगमता से जाना जा सकता है।'

'महाराज से कभी साक्षात् हुआ है, मिश्र जी ?'

'नहीं आर्य, जब शरणागत होकर आया था तब एक बार दरबार में उपस्थित अवश्य हुआ था, परन्तु···।'

'तुम महाराज के स्वभाव से परिचित नहीं हो। युवा हैं परन्तु अब भी उनमें आवश्यकता से अधिक लड़कपन है। बहुत ही भावुक हैं, और वीरसेन पर उनकी अत्याधिक कृपा है। अगर महाराज से इस विषय पर वार्तालाप किया गया तो महाराज एक शब्द पर भी विश्वास नहीं करेंगे। साथ ही वह वीरसेन को भी सूचित कर देंगे कि उसके खिलाफ कुछ व्यक्ति षड़यंत्र कर रहे हैं, और अमुक-अमुक झूठी बातें मुझसे आकर कही गयीं हैं···।'

'कम से कम एक लाभ तो होगा ही आर्य। जब वीरसेन यह जानेगा कि किसी को उसके कुचक्र की जानकारी है तब वह यह कार्यक्रम तुरन्त ही चालू नहीं करेगा—और इस प्रकार थोड़ा सा

समय बीत जायेगा और महामन्त्री अविनाश जब राजधानी में लौट आयेंगे तो मैं अपने कर्तव्य के भार से मुक्त हो जाऊँगा।'

मिश्र जी का सुझाव सुनकर सेनापति मुस्कराए—'यह ठीक है मिश्र जी कि तुम गुप्तचर हो। फिर भी मैं यह मानने के लिए तैयार नहीं कि तुम कूटनीति से परिचित नहीं हो।'

क्षमा करें मैं आर्य के वचन का आशय नहीं समझा।'

सेनापति पुनः मुस्कराये—'आशय समझना चाहते हो ? भाई मिश्र जी, साँप बार बार बिल छोड़ कर बाहर नहीं निकलता। साँप निकल गया तो लकीर पीटने वाले को मूर्ख कहा जाता है। षड़यंत्र समाप्त भी हो गया और षड़यंत्रकारी शेष रह गये तो तुम्हारी भागदौड़ का लाभ क्या हुआ ?'

'परन्तु मेरी भागदौड़ की भी तो एक सीमा है, आर्य।'

'मैं स्वीकार करता हूं।'

'उत्कल की सेना पाटलिपुत्र की सीमा पर है।'

'उसकी चिन्ता तुम मत करो।' सेनापति पहेली सी बूझ रहे थे।

मिश्र जी ने स्पष्ट पूछा—'तब मुझे क्या आज्ञा है, देव ?'

'इतिहास ने कर्तव्य का गुरुतर भार तुम्हारे कन्धों पर रक्खा

है, मिश्र जी। उस भार को उठाने की क्षमता अपने आप में एकत्र करो। तुम्हें जिस उद्देश्य से महामंत्री ने रूपपुरी भेजा था वह अभी पूरा नहीं हुआ है, वह तब पूरा होगा जब तुम अपराधी वीरसेन को रंगे हाथों महाराज के सामने प्रस्तुत करोगे।'

'मैं अकेला हूं, महाराज।'

'जितने चाहो सहायक मुझसे ले लो।'

'अच्छा, आर्य आप महाराज को रूपपुरी आने से तो रोक लेंगे न ?'

'अगर महाराज को रूपपुरी जाने से रोक लिया गया तब यह कैसे प्रमाणित होगा कि वीरसेन षड्यंत्रकारी है ?'

'परन्तु महाराज को रूपपुरी जाने देना तो उन्हें ज्वालामुखी के मुख में बैठा देने के समान होगा।'

मिश्र जी के इस वाक्य से सेनापति रुद्रभानु फिर मौन हो गये।

कुछ क्षण सोचने विचारने के बाद वह बोले—'इसके अतिरिक्त और चारा ही नहीं है, मिश्र जी। दुर्भाग्य से पाटलिपुत्र का शासन ऐसा अवस्था में है कि सब कुछ जान बूझ कर भी वीरसेन के खिलाफ खुल्लमखुल्ला कार्यवाही मैं नहीं कर सकता। महामन्त्री अविनाश की उपस्थिति में भी ऐसा सम्भव नहीं था। दुःख केवल

इस बात का है कि यह षड्यन्त्र वीरसेन का नहीं, उत्कलपति जयवर्धन का है। इस षड्यन्त्र के प्रति उदासीनता का अर्थ होता है, पाटलिपुत्र के नागरिकों का सदा सर्वदा के लिए उत्कलपति का दास हो जाना। अन्यथा मैं समरसेन अथवा वीरसेन में कोई विशेष अन्तर नहीं पाता हूं। समरसेन में आवश्यकता से अधिक लड़कपन और उच्छृंखलता है तो वीरसेन में विनाशकारी नाचता का बाहुल्य हैं। अच्छा मिश्र जी, मैं अभी तुरन्त महामन्त्री अविनाश के पास पक्षी द्वारा सन्देश पहुंचवाए देता हूं···वह आजायेंगे तो।'

'इतना समय कहां है आर्य ? कल साँझ तक महाराज के पास रूपपुरी आने के लिए वीरसेन का निमन्त्रण पहुंच जाएगा।'

'तब एक ही निश्चय है, कि कल प्रात: तुम फिर रूपपुरी लौट जाओ। सीमा पर उत्कल सेना का पड़ाव है। इसकी चिन्ता मत करना, समझ लेना कि मैं हर क्षण, जयवर्धन की सेना से निपटने के लिये वहां प्रस्तुत हूं।'

'धन्यवाद, फिर चिन्ता की क्या बात है ? बस, केवल इतनी ही समस्या शेष रह जाती है कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जाये जिससे महाराज रूपपुरी न जाने पायें।'

'तब वीरसेन अपराधी कैसे प्रमाणित होगा ? आप ही बताइये मिश्र जी, तब वह उद्देश्य कैसे पूरा होगा जिसकी प्राप्ति के लिए तुम्हें महामन्त्री अविनाश ने रूपपुरी भेजा था ?'

'मैं किसी भी उत्तरदायित्व से मुंह मोड़ रहा हूं ऐसा न समझें आर्य, किसी षड़यंत्र को चूर-चूर करने के लिए महाराज को दाँव पर लगाना...।'

'इसके अतिरिक्त और चारा भी तो नहीं है। आप ऐसा ही करें मिश्र जी! अगर दुर्भाग्य से महाराज समरसेन इस षड़यन्त्र के शिकार हो गये तो मुझे स्वीकार है कि मैं स्वयं अपने आपको सार्वजनिक रूप से अपराधी घोषित कर दूंगा!'

सेनापति ने यह वाक्य किसी आवेश अथवा झुंझलाहट में नहीं, पूर्ण संयत भाव से कहे। यह सेनापति की मर्यादा के अनुकूल भी था। महाराज समरसेन तो प्रतीक मात्र थे, वास्तव में तो पाटलिपुत्र के वैभव और शक्ति के स्रोत वही दो व्यक्ति थे।

एक महामन्त्री अविनाश!

दूसरे सेनापति रुद्रभानु!!

'तो आर्य, मुझे आज्ञा है?'

'प्रातः तुम रूपपुरी के लिये प्रस्थान करोगे, मिश्र जी?'

'यह तो निश्चित है, आर्य।'

'सहायक गुप्तचरों की आवश्यकता हो तो।'

'आवश्यकता तो, आर्य रूपपुरी में पूरे पाटलिपुत्र के गुप्तचरों की है। प्रश्न यह है कि जब राज्य की इस विषय में कोई नीति ही नहीं है तो फिर वहां किसी अन्य गुप्तचर को भेजना व्यर्थ है।'

'मैं राज्य के गुप्तचरों की बात नहीं करता। अगर चाहो तो अपने निजी गुप्तचर तुम्हें दे सकता हूं।'

'आप अपने गुप्तचरों को उत्कल सेना में अवश्य भेजिए।'

'निश्चिन्त रहो, मिश्र जी।' विश्वास और स्नेह से मिश्र जी की पीठ थपथपाते हुए सेनापति ने कहा—'रुद्रभानु के जीते जी पाटलिपुत्र की सेना अजेय है। बंग, उत्कल, काशी पूरे भरत खंड के जितने भी राज्य हैं, यह कोई गर्वोक्ति नहीं है कि मेरी सेना उन सब में श्रेष्ठतम है। परन्तु मेरे मित्र, मैं कुल और वंश से सैनिक हूं। सैनिक का धर्म जानता हूं, उसके कर्तव्य जानता हूं। घात-प्रतिघात, कुचक्र और षड़यन्त्रों से मैं सदा दूर रहा हूं। तुम प्रातः रूपपुरी जाओगे न, प्रातः से ही तुम समझना कि मैं हर क्षण रूपपुरी में उपस्थित हूं। और सुनो, महामन्त्री अविनाश ने तुम्हारी नियुक्ति वहाँ की है। परन्तु यह मेरा आदेश है, उस महान कूटनीतिज्ञ की अनुपस्थिति के कारण, यह एक सैनिक का आदेश है कि जब देखो कि बाजी हाथ से जा रही है तो अवसर मत खोना, और वीरसेन को वीर गति दे देना!'

'आर्य!' सेनापति के आदेश से चौंकते हुए मिश्र जी के मुंह से विस्मय का केवल एक शब्द निकला।

'तुम्हें विस्मय हुआ?'

'वीरसेन महाराज के रिश्ते में भाई हैं?'

'राजा होता वास्तव में क्या है ?'

सेनापति के प्रश्न का आशय मिश्र जी समझ नहीं सके।

सेनापति पुनः बोले—'राजा क्या है, मिश्र जी ? क्या राजा ईश्वर है ? नहीं न। राजा है एक प्रतीक, एक भूखण्ड में बसने वाले समस्त कुटुम्बों और जातियों का प्रतीक, बस, राजा ईश्वर नहीं है इसलिए पूज्य नहीं है। उसका सम्मान एक व्यक्ति के नाते नहीं, एक प्रतीक के नाते किया जाता है।'

मिश्र जी ने सिर हिलाया—'आर्य, सिद्धान्त रूप में आपकी बात सही है, परन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। एक व्यक्ति के नाते राजा प्रजा से इतने असीम अधिकार प्राप्त कर चुका है कि वह प्रजा पर एक बोझ-सा प्रतीत होता है। किसी व्यक्ति के लिये ईश्वर को न मानकर भी जी लेना कठिन नहीं है, परन्तु क्या राजा की सत्ता को न मान कर कोई जी सकता है ? नहीं ! तब क्या यह मान लेना अनुचित है कि राजा ईश्वर से भी अधिक 'पूज्यनीय' बन बैठा है ?'

'मुझे तुम्हारी बातें पसन्द आई। कभी अवसर मिला तो फिर इस विषय पर बातें करेंगे, हां तो मेरी बात स्वीकार है न ? अगर बाजी हाथ से जाती देखो तो वीरसेन का सिर बेझिझक उतार लेना।'

'आर्य की आज्ञा शिरोधार्य !'

'साथ ही यह भी ध्यान रखना कि मन्त्री अविनाश इस बाजी में तभी विजयी कहलायेंगे जब कि षड़यन्त्र का स्रोत वीरसेन सदा सर्वदा के लिये इस संसार से उठ जाये।'

'तो अब आज्ञा है देव ?'

'वाह ! भला ऐसे कैसे जाओगे ?' सेनापति ने मिश्र जी से भोजन के लिए आग्रह किया। आग्रह इतना महत्वपूर्ण था कि मिश्र जी टाल न सके।

सेनापति के साथ मिश्र जी ने भोजन किया। चलते समय सेनापति ने मिश्र जी को एक तलवार भेंट करते हुए कहा—'ब्राह्मण को तलवार का उपहार देना हास्यस्पद है। परन्तु यह तलवार मैं इस विश्वास के नाते दे रहा हूं कि तुम हर क्षण यह बात स्मरण रख सको कि पाटलिपुत्र की सेना तुम्हारे साथ है। आज ही मैं पूरी परिस्थिति संदेश रूप में महामन्त्री को भी भेज दूंगा। वह तो तुम्हारे विश्वासी हैं ही !'

सेनापति से भेंट समाप्त करके मिश्र जी ने रात अपने आवास में बिताई और भोर होते ही वह फिर घोड़ा दौड़ाते हुए तेज चाल से रूपपुरी की दिशा में चले गये।

अगले दिन का संध्याकाल—

पाटलिपुत्र के महल में। यहां कई शताब्दियों से निरन्तर विजय श्री के शासकों पर कृपालु होने के कारण स्वर्गपुरी जैसा वातावरण और इन्द्रपुरी जैसा वैभव है।

सांझ के सुहाने वातावरण में इन्द्र के समान रूपवान महाराज समरसेन दासियों से घिरे उद्यान में दैनिक शस्त्राभ्यास के लिये पधारे।

यही समय होता था जब महाराज सेनापति रुद्रभानु से मिलते थे। महाराज जब पाँच वर्ष के राजकुमार थे तब से भूतपूर्व महाराज ने सेनापति को शस्त्राभ्यास के लिए नियुक्त किया था। वह

क्रम तभी से निरन्तर चला आ रहा है, रुका तभी था जब उत्कल राज्य ने पाटलिपुत्र पर हमला किया था और सेनापति कई मास युद्ध में उलझे रहे थे।

वैसे तो महाराज समरसेन लगभग उन सभी विद्याओं में पारंगत थे जिनमें सिद्धहस्त होना एक राजा के लिए उन दिनों आवश्यक था, परन्तु अल्हड़ आयु तथा रसिक स्वभाव होने के कारण महाराज का मन संगीत और चित्रकला में अधिक लगता था। दासियों के क्रय-विक्रय में महाराज को बहुत दिलचस्पी थी। एक भी पुरानी दासी महलों में नहीं रह पाती थी। हर वर्ष व्यापारी नई उम्र की दासियाँ महाराज को बेच जाते थे और पुरानी कौड़ियों के मोल खरीद कर फिर अन्य राज्यों में उन्हें बेच कर मुनाफा बनाते थे।

यूनान, अरब, ईरान, मंगोलिया, चीन और ब्रह्म देश, तात्पर्य यह जिस किसी देश का भी जल और थल से भारत से व्यापार था वहाँ की सुन्दरियां पाटलिपुत्र के महल में अवश्य होती थीं और दासी कहलाती थीं। शासन की वास्तविक बागडोर महामन्त्री अविनाश के हाथों में थी, बस इसीलिए विशाल दासी-समूह रनिवास में परिवर्तित नहीं हो पाता था, और महाराज समरसेन अभी कुमार ही कहलाते थे।

अभिवादन के आदान-प्रदान के बाद शस्त्राभ्यास आरम्भ हुआ।

आज भाले के निशानों का कार्य-क्रम था। लगभग बीस भाले अचूक निशाने पर जमाते हुये महाराज ने कहा—'बस काका, आज मन नहीं है। वैसे समय भी नहीं है, मुझे प्रातःकाल रूपपुरी के लिये प्रस्थान करना है।'

'रूपपुरी के लिये ?' सेनापति ने विस्मय प्रकट किया।

'हां, वीरसेन भैया का बुलावा आया है।'

'अभी नहीं महाराज, पन्द्रह दिन बाद आप रूपपुरी जाने का कार्यक्रम रखें। महामन्त्री अविनाश राजधानी में हैं नहीं, और मुझे आज रात से ही सीमान्त-रक्षा व्यवस्था के निरीक्षण हेतु यात्रा आरम्भ करनी है !'

'तो आप यात्रा करें न।'

'राजधानी में कौन रहेगा ?'

'ओह काका जी, आप भी दिनोंदिन महामन्त्री अविनाश जी जैसे बनते जा रहे हैं। मान लीजिए राजधानी में न मैं हूं न वह हैं और न आप हैं, तब भी कोई अनर्थ तो न हो जायेगा। राज्य के अनेकों अमात्य राजधानी में हैं। यहां के शासन का दायित्व नगर अमात्य पर है और आप जानते हैं कि वह अपने कार्य में सर्वथा योग्य हैं !'

'जानता हूं, परन्तु महाराज रूपपुरी जाने की ऐसी भला क्या जल्दी है ?'

महाराज समरसेन हाठों में मुस्कराए, उन्होंने एक दासी को आज्ञा दी कि वह उनके निजी कक्ष से सामन्त वीरसेन का पत्र उठा कर ले आये।

जब तक दासी पत्र लेकर लौटी, बड़े उत्साह से महाराज ने कई निशाने और लगाये।

'पढ़िये काका जी।' दासी को पत्र सेनापति की ओर बढ़ा देने का संकेत करते हुये महाराज ने कहा।

स्वर्ण मंजूषा में से हल्के गुलाबी रेशमी कपड़े पर लिखा हुआ पत्र सेनापति ने निकाला। पत्र के दोनों ओर सोने की जड़ाऊ डंडियां लगी हुई थीं।

पत्र में लिखा था :—

'महाराजधिराज पाटलिपुत्र वीर शिरोमणि समरसेन को सामंत वीरसेन की कोटिशः आशीष।

भैया समरसेन, सूचित करते अपार हर्ष है कि वह समय आ गया है जिसकी मुझे तथा पूरे पाटलिपुत्र की प्रजा को प्रतीक्षा थी। विद्वान् ज्योतिषीगण और भविष्यवक्ताओं की भविष्यवाणी पूरी हुई और पाटलिपुत्र की प्रजा की भाग्यलक्ष्मी स्वयं कामरूप से चल

कर रूपपुरी पधारी हैं ! वह हैं—संगीत-विदुषी राजकुमारी रत्न-मालिका।

माता पार्वती की आराधिका रत्नकालिका ने मन, वचन और कर्म से तुम्हें अपना पति स्वीकार किया है। कामरूप के महाराज की अनुमति से वह स्वयं अंगरक्षकों सहित तुम्हारे गले में वरमाला डालने दुर्गम पहाड़ियों और चंचल नदियों को पार कर रूपपुरी तक पहुंची हैं। मैंने अपना कर्तव्य समझा कि उन्हें पाटलिपुत्र की सीमा से आगे साधारण यात्री की भांति न जाने दूं।

पाटलिपुत्र की भावी महारानी का यथोचित स्वागत होना चाहिये। इतिहास में आज तक ऐसा नहीं हुआ कि वधु स्वयं वर की खोज में आई हो। कामरूप की राजकुमारी का सीमा पर स्वागत करने महाराज पाटलिपुत्र स्वयं पधारें यह मेरी मनोकामना है।

प्रतीक्षा में—
वीरसेन"

'इतिहास में सचमुच ऐसा उदाहरण नहीं मिलता !' पत्र लपेटते हुए सेनापति बोले—'क्या महाराज कामरूप दूत भेजकर नियमानुसार विवाह-सन्देश नहीं भेज सकते थे ?'

'काका जी !' उपेक्षा से समरसेन ने कहा—'आप वह आयु पार कर चुके हैं जिसमें प्रेम की भावनाओं को समझने की क्षमता

हुआ करती है। अगर महाराज कामरूप विवाह-सन्देश दूत द्वारा भेजते तो वह एक पारिवारिक संधि-प्रस्ताव मात्र होता ! प्रेम का ऐसा ज्वलंत उदाहरण नहीं !'

'प्रेम का ज्वलंत उदाहरण—एक राजकुमारी प्रस्तुत करेगी ? यह असम्भव है महाराज ! जो महलों में जन्में, सुख सुविधा में पले, वह प्राणी—स्वार्थ सीखता है, प्रेम नहीं।'

'आप कहना क्या चाहते हैं, काका जी ?' समरसेन की भृकुटि पर बल पड़ गए।

'आप सुन सकेंगे, महाराज ?'

'सुन क्यों नहीं सकूंगा ?'

'कामरूप की राजकुमारी इस प्रकार नहीं आ सकती !'

ईंट का जवाब पत्थर से दिया समरसेन ने—'स्पष्ट कथन के लिये क्षमाप्रार्थी हूं, काका जी। आप मेरे गुरु हैं, परन्तु आजन्म तलवार का खेल खेलने वाला मानवीय मन का मर्मज्ञ नहीं हो सकता।'

'मैंने मर्मज्ञ होने का दावा तो कभी किया नहीं, महाराज ! परन्तु—आप यह अच्छी तरह जानते हैं कि मेरा सारा जीवन युद्ध की विभीषिकाओं के बीच ही बीता है ! आप नहीं जानते, मैं

जानता हूं कि युद्ध क्यों होते हैं ? साधारण सैनिक से लेकर सेनापति तक युद्ध करते हैं—युद्ध रोकते नहीं ! युद्ध राजाओं की लालसा रोकती है, युद्ध-नीति ही राजनीति का मेरुदंड है···इसलिए सत्ता-धारियों की कुंठित महत्वाकांक्षाओं का नग्न रूप एक सैनिक ही देखता है—इसलिए सही है कि मैं मानवीय मन का मर्मज्ञ नहीं, किन्तु राजाओं, राजकुमारों व राजकुमारियों के मन में कितना प्रेम होता है यह मैं भली प्रकार जानता हूं—कामरूप की राजकुमारी से आपका विवाह हो सकता है—परन्तु कामरूप की राजपुत्री प्रेमवश चल कर स्वयं पाटलिपुत्र नहीं आ सकती।'

'काका जी !' चीख उठे महाराज समरसेन।

'दावे के साथ कह सकता हूं कि यह कोई षड़यन्त्र है ! सामंत वीरसेन का रचा हुआ !'

'चुप रहिये, काका जी !'

'कामरूप से चलकर पाटलिपुत्र आने वाली, धन को सर्वस्व समझने वाली वेश्या हो सकती है—राजकुमारी नहीं···।'

'खबरदार, अगर एक शब्द भी मुंह से निकाला तो···।' क्रोध से पागल होकर एक दासी के हाथ से भाला छीन समरसेन ने वृद्ध सेनापति की ओर तान दिया।

रुद्रभानु खिलखिला कर हँस पड़े। दासियां चकित रह गईं।

दूसरे ही क्षण समरसेन का हृदय आत्म-ग्लानि से भर गया। उनके स्वर्गीय पिता भी अपने सेनापति से आयु में छोटे होने के कारण सदा इन्हें 'भैया जी' ही कहकर सम्बोधित किया करते थे।

पर वह वृद्ध नर-केहरि तो खिलखिला कर हँसे जा रहे थे, मानो किसी विदूषक के हँसाने वाले करतब से हँसी आई हो—बड़ी कठिनाई से हँसी रोक कर सेनापति बोले—'सुनो, चिरंजीव, वनराज सिंह एक दिन बूढ़ा तो होता है—परन्तु बूढ़ा होकर भी वह वनराज केसरी ही कहलाता है, सियार नहीं। वह लकड़हारा मूर्ख कहलाता है जो जिस डाल पर बैठा हो उसे ही काट दे—उस भवन पति को क्या कहा जायेगा जो स्तम्भों को ओट समझ कर गिरा दे—और भवन की छत को आकाश के सहारे ही लटकी रहने की मूर्खतापूर्ण कल्पना पर विश्वास करे।'

महाराज समरसेन किंकर्तव्यविमूढ़ खड़े रह गये। केवल इतना ही कह कर सदा की भांति मंथर, किन्तु गर्वीली चाल चलते हुये सेनापति चले गये।

अशान्त चित्त महाराज अपने कक्ष में वापस लौट आये।

वैभव का सूर्य अस्ताचल की ओर लुढ़के···

—इस कल्पना मात्र से वह सिहर उठे कि अगर रुद्रभानु काका विद्रोह कर दें, तो ?

महामंत्री अविनाश के आग्नेय नेत्र और उनकी कठोर मुखमुद्रा कल्पना में उनके सम्मुख प्रत्यक्ष हो उठी। रुद्रभानु महाराज की उच्छृंखलता को सदा 'बचपना' कह कर टाल जाते थे—परन्तु महामंत्री अविनाश···भरे दरबार में श्रद्धा से सिर झुकाकर अभ्यर्थना में स्तुतिपूर्ण वाक्य कहने वाले अविनाश—एकान्त में जल्लाद ही की दृष्टि से महाराज को देखते थे।

'रुद्रभानु काका इस घटना का जिक्र महामन्त्री जी से करेंगे अवश्य।'

महाराज ने अपनी भयभीत दृष्टि ऊपर उठाई।

दो नई ईरानी दासियां अर्धनग्न अवस्था में खड़ी पंखे झल रही थीं ब्रह्म देश की सुन्दरी दासी—केवल आभूषणों से ही शरीर के कुछ अंगों को ढांपे, स्वर्ण पत्र की बनी कंचुकि पहने, तथा मोतियों की माला से बनी नाभिका कमर में बांधे—एक हाथ में सुरा की सुराही दूसरे में चंवर लिये—प्रस्तुत थी !

भयभीत महाराज को लगा मानो यह सुन्दरी समूह लोलुप नागिनें हों जो जीभ लपलपाती उनकी ओर निरन्तर टकटकी बांधे हैं !

'कक्ष से बाहर जाओ !' चीखकर आदेश दिया उन्होंने।

और फिर उनके मन में एक निश्चय जगा। महाराज ने स्वयं अपने हाथों से रेशमी जरीदार बेल कढ़े कपड़े पर पत्र लिखा :—

'काका जी, आज के व्यवहार पर मैं बहुत लज्जित हूं। आप पितृतुल्य हैं, क्षमा प्रार्थी हूं, समरसेन।'

तुरन्त ही एक विश्वासी अनुचर को आदेश हुआ कि महा सेनापति अपनी हवेली में, सेना शिविर में, चाहे जहां मिले, तुरन्त उत्तर ले कर आओ।

वह घड़ी बड़ी आतुरता से बीती जिसमें महाराज को पत्रवाहक की प्रतीक्षा करनी पड़ी।

अन्त में पत्रवाहक सैन्य शिविर से महा सेनापति का भोजपत्र पर लिखा हुआ उत्तर ले आया।

'महाराज, आपसे मेरे दो रिश्ते हैं। आप राजा हैं और राजा होने के कारण मुझ राज्यभक्त के लिये श्रद्धेय हैं। और···आप मेरे शिष्य भी हैं। शिष्य सन्तान के समान होता है, ना समझी में सन्तान माता-पिता पर मल-मूत्र तक फैला देते हैं, परन्तु ना समझ सन्तान माता-पिता के लिये त्याज्य नहीं होती ! साधारण सी घटना पर मन मैला मत करो, मैं इस घटना को भुला रहा हूं, तुम भी मेरा अनुसरण करो !

—रुद्रभानु।'

महाराज ने सन्तोष की सांस ली।

दासियों को पुनः कक्ष में आने की अनुमति मिली।

आंख के संकेत से ब्रह्म देश की दासी को सुरा चषक भरने की आज्ञा हुई।

सौन्दर्य के उस व्यस्त भाव पर महाराज विक्षिप्त हो उठे। उन्नत उरोजों वाली सुरा-बाला की ओर महाराज की बाहें बढ़ीं।

सुरा-सुराही हाथों से छूटकर तोषक भिगोने लगी।

सुरा बाला महाराज की बांहों में थी, अँगूर की बेल की भाँति बलखाती हुई।

मिश्र जी जब रूपपुरी की अतिथिशाला में पहुंचे तो वहां रंग बंधा हुआ था। चम्पावती बंग देश की एक गायिका के नाम से उत्कल के लगभग चालीस गुप्तचरों सहित अतिथिशाला में ठहरी हुई थी।

यह जानकर मिश्र जी ने संतोष की सांस ली कि उनकी पाटलिपुत्र यात्रा काल में वीरसेन की ओर से कोई पुछवाई नहीं हुई।

यथास्थान घोड़ा बांध कर मिश्र जी ने सर्वप्रथम वीरसेन से मिलने की चेष्टा कर लेना उचित समझा। सौभाग्य से तुरन्त मिलने का समय भी मिल गया।

वीरसेन से साक्षात हुआ। सम्भवतः प्रेत के भय से, वह कुछ दुबला और पीला सा हो गया था। परन्तु बड़े तपाक् से मिला, अभिवादन के उत्तर में मुस्कराया—'कहो वचन, कोई कष्ट तो नहीं है? मुझे खेद है कि मैं तुम्हारे लिए कोई समय निकाल नहीं पाया।'

हाथ बाँध कर मिश्र जी बोले—'शत्रुओं पर बज्र गिरे, श्रीमान कुछ दुबले से दिखाई देते हैं?'

'हाँ, कुछ रुग्णता सी रही है!' धीमे, दबे-से स्वर में वीरसेन ने कहा।

'क्षमा करें, मैं व्यर्थ कष्ट देने नहीं आया।' मिश्र जी बोले—'एक शुभ समाचार है कि, कटक से सेना नायक ने अपनी कन्या को कुछ विश्वस्त सैनिकों सहित इसी दिशा में···।'

'सच?' वीरसेन ने आतुरता के मारे बीच ही में पूछ लिया।

'हां महाराज, मजबूरी जो थी! राजकुमार की लम्पटता के कारण बड़े चिन्तापुर थे सेनानायक।'

'ओह! ठीक हुआ वचन, हम स्वागत करेंगे।'

'एक निवेदन है महाराज?'

'कहो?'

'मेरे स्वामी की कन्या का राजकीय अतिथिशाला में ठहराना उचित नहीं होगा। वह···।'

'यह सब कहने की आवश्यकता नहीं, मित्र! हम उन्हें कमल कुंज की सुन्दर अट्टालिका में उतारेंगे। अतिथि रूप में वह केवल वहां उतने ही दिन रहेंगी जब तक कि विवाह संस्कार का शुभ मुहूर्त न हो···कोई है?' अभी प्रतिध्वनि गूंज ही रही थी कि अनुचर ने आकर अभिवादन किया।

'कमल कुंज जाकर कामरूप के अतिथि श्री आशु को संदेश दो कि कल से उनके दल के लिये निशा-भवन में प्रबन्ध कर दिया गया है। सुनो, प्रातः हमें याद दिलाना कि किसी नये अतिथि के लिये कमल कुंज का भवन विशेष रूप से सजाया जाना है।'

'जो आज्ञा, देव!' कहकर अनुचर चला गया।

'सुनो वचन, शीघ्र ही महाराज रूपपुरी पधार रहे हैं। मुझे उनके स्वागत में व्यस्त रहना होगा। बुरा मत मानना, अगर भविष्य में तुम्हें समय न दे सकूं!'

'इसकी तो आवश्यकता भी नहीं है श्रीमान, परन्तु यदि स्वामी की कन्या का आगमन हो तो?'

'इस सूचना के लिये हर पल मेरा द्वार खुला है।'

'धन्यवाद महाराज! अब मैं आपका अधिक समय नहीं लूंगा।'

'कुछ द्रव्य आदि की तो आवश्यकता नहीं ?'

'आप मेरे स्वामी के जमाता हैं, मुझे इसी बात की बहुत लाज है कि मैं आपकी अतिथिशाला में टिका हूं।'

मिश्र जी विदा लेकर चलने लगे तो वीरसेन ने टोका—'सुनो वचन, आज रात बंग देश की गायिका चम्पावती का महल में गायन और नृत्य है, तुम चाहो तो···।'

'नहीं, क्षमा करें महाराज, मैं सैनिक हूं। गायन, नृत्य आदि में रस नहीं आता।' अभिवादन करके मिश्र जी पुनः अतिथिशाला में पहुंचे। घोड़े को अतिथिशाला से हटा कर शहर कोट के निकट एक घुड़साल में बांध कर वह निरुद्देश्य मृदुलावती के किनारे चले गये। जब लौटे तो एक पहर रात बीत चुकी थी।

अपने कक्ष में जाकर मिश्र जी ने कटक के सेनानायक दूत वचन का वेश उतार डाला। एक रस्सा लेकर मिश्र जी अपने असली रूप में किसी तरह प्रहरी की नजर बचा कर चम्पावती के कक्ष में घुस गये।

इस समय चम्पावती वीरसेन के महल में महफिल जमाये थी।

उन्होंने चुपचाप चम्पावती के कक्ष का चप्पा-चप्पा और एक एक चीज ठीक से देख ली। सामान में जो स्वर्ण एवं रजत मुद्रायें थीं वह तो उन्होंने कमर से बांधली, चम्पावती के सुन्दर परिधान

एवं आभूषण एक गठरी में बांधे, और उस गठरी समेत एक अंधेरे कोने में बैठ गये।

पल से घड़ी, घड़ी से प्रहर, समय बीतता रहा।

रात्रि का दूसरा पहर बीता, तीसरा प्रारम्भ हुआ।

मिश्र जी ने बैठे ही बैठे एक नींद भी ले ली।

कोलाहल सुनकर उनकी नींद टूटी। वीरसेन के महल से चम्पावती का दल लौट आया था। सांस रोक कर, कोने में वह दुबक कर खड़े हो गये।

चम्पावती कक्ष में आई, हारी थकी थी, शीघ्रता पूर्वक उसने आभूषण उतारे, जरीदार भारी परिधान उतार कर—हल्की रेशमी कंचुकी और घाघरा पहना—फिर साथ आई दासी को तेजी से पंखा झलने का आदेश देकर वह शैया पर लेट गई।

तीसरा पहर बीत गया।

चम्पावती गहरी निद्रा में थी। स्वामिनी को गहरी निद्रा में देख दासी भी पंखा एक ओर रख कर पलंग की पट्टी से सिर टिका कर ऊंघती-ऊंघती सो गई।

मिश्र जी ताक में थे, उन्होंने मुंह कपड़े से इस प्रकार लपेटा कि केवल आंखें ही दिखाई देती थीं।

अब मिश्र जी ने अपनी चमड़े की विशेष थैली निकाली और उसमें से मुट्ठी भर कर राख जैसा चूर्ण निकाला चुटकी भर कर चम्पावती की नाक के पास छिड़क दिया और फिर दासी की नाक के पास ले जाकर मुट्ठी खोल दी।

पूरे कक्ष में विचित्र-सी सुगन्ध फैल गई, एक चुटकी भर चूर्ण उन्होंने चम्पावती की नाक के निकट छिड़का।

फिर दासी के पास आकर कुछ क्षण उसकी श्वास प्रक्रिया की टोह लेने के बाद जब उन्होंने उसे बांह पकड़ कर झिझोड़ा तो दासी मुर्दे के समान फर्श पर लुढ़क गई।

अब उन्होंने चम्पावती के सुन्दर शरीर का स्पर्श किया, झिझोड़ा परन्तु वह भी दासी जैसी ही अवस्था में थी। अचेत—मौत से बाजी लगाने वाली गहरी नींद में।

उन्होंने रस्सी उठाई और खिड़की तक गये—फिर जाने क्या सोचकर रस्सी उन्होंने एक ओर रख दी और दबे पांव कक्ष से बाहर हो गये।

अतिथिशाला में सब ओर निद्रा देवी का राज्य था। प्रवेशद्वार बन्द था, परन्तु खिड़की खुली थी। दो प्रहरी निश्चिन्त होकर दीवार से सिर टिकाये सो रहे थे।

वह राख जैसा चूर्ण उन दोनों प्रहरियों पर भी धूल की भांति

डालकर कुछ देर मिश्रजी वहां खड़े रहे और फिर पुनः कक्ष में लौट आये।

चम्पावती को उन्होंने एक साधारण चादर में लपेटा और पीठ पर लादकर दूसरे हाथ में चम्पावती का समेटा हुआ माल असबाब उठा कर निर्विघ्न अतिथिशाला पार कर गये।

आसमान से गिरा और खजूर में अटका वाली कहावत चरितार्थ हुई।

रूपपुरी के बाजार के मोड़ पर अचानक ही दो अश्वारोही सामने आ गये। छुप कर ओट में हो जाना सम्भव नहीं था। क्षण मात्र को उन्हें लगा कि जीती बाजी हार गये।

'वीर सैनिकों ?' मन ही मन में अपनी युक्ति पर विचार करते हुये उन्होंने हाथ के संकेत से सैनिकों को रोका।

'क्या है ?' कड़कते स्वर में एक ने पूछा।

'भाई, काशी का व्यापारी हूं। दुर्दिन आये हैं, एक ओर लाखों का घाटा हुआ है, दूसरी ओर पत्नी मरणासन्न है। वैद्यराज ने कहा है कि पाटलिपुत्र के कविराज चित्रसेन अब भी इसकी चिकित्सा कर सकते हैं। कृपा कर मुझे कोई रथ किराये पर दिला दो, ईश्वर तुम्हारे यश में वृद्धि करेगा।'

दूसरा बोला—'रथ मिल जाएगा श्रेष्ठि, घबराते क्यों हो

ईश्वर पर भरोसा रक्खो। देखो कोटद्वार चले जाओ, वहां सन्तु कुम्हार की घुड़साल है, यहां से नित्य प्रति पाटलिपुत्र के लिये रथ जाते हैं—उसका यही व्यापार है।'

'धन्यवाद।'

सैनिकों ने अपने घोड़ों को एड़ लगाई, और टापों से नीरव पथ को रौंदते चले गए।

मन ही मन मुस्कराते हुए मिश्र जी आगे बढ़े।

कोट द्वार अभी खुला नहीं था, सन्तू कुम्हार से रथ तय हो गया। मिश्र जी का घोड़ा वहां बँधा ही था—और जैसे ही कोट द्वार खुला, अरबी अश्व पर मिश्र जी और रथ में उनकी कथित पत्नी रूपपुरी नगरी से बाहर हो गये।

दोपहर तक रथ निर्बाध दौड़ता रहा।

अब रथ गंगा तट पर फैले विशाल जंगल के छोर पर बने मार्ग पर दौड़ रहा था। एकाएक मिश्र जी ने सारथी से रथ रोकने को कहा—'रोको भाई, गंगा तट है—शायद गृहिणी को होश आया हो। गंगाजल पीने से रोग दूर होते हैं और मनुष्य निरोग होता है, ऐसा शास्त्रों में लिखा है।'

सारथी ने रथ रोक दिया। मिश्र जी ने रथ का पर्दा हटाया—

चम्पावती गहरी निद्रा में थी। उन्होंने उसकी पलकें तनिक ऊँची कर दीं, होंठ खोल दिए और फिर चिल्ला कर बोले—'अरे! मैं तो लुट गया, मेरी लक्ष्मी मुझे छोड़ कर चली गई······मेरी लक्ष्मी···।'

रथ से अलग जा मिश्र जी सिर पीट पीट कर रोने लगे। सारथी ने भी एक दृष्टि रथ के भीतर डाली। खुले होंठ, फटी-सी आँखें।

स्वयं आँखों में आंसू लिये सारथी एक घड़ी तक मिश्र जी को ढाढ़स बँधाता रहा। उसने सुझाव दिया—'श्रेष्ठि, ईश्वर की इच्छा में क्या बस? लकड़ी चुन लाता हूं, फिर आस-पास की किसी बस्ती से अग्नि ले आऊँगा, अब दाह संस्कार की चिन्ता करो।'

आंसू पोंछते हुए मिश्र जी बोले—'मैं लाश उतार लेता हूं, भैया। गंगा में प्रवाहित कर दूंगा। बुरा मत मानना, सारथी हो न, तुम्हारा वणिक स्त्री की लाश को छूना उचित नहीं है। तुम इसकी चिता का प्रबन्ध करो यह भी उचित नहीं है।'

सारथी को बात ठीक लगी। बोला—'रथ गंगा किनारे ले चलूं?'

'नहीं भैया! तुम्हारे रथ में यात्री बैठते हैं। मुर्दे का अधिक

देर रथ में रहना ठीक नहीं। मैं लाश उतारे लेता हूं, तुम लौट जाओ।'

मिश्र जी ने चम्पावती को बांहों में भर कर रथ से उतार कर जमीन में लिटा दिया, जो चादर उससे लिपटी थी उसी से उसका सम्पूर्ण शरीर ढांप दिया। सारथी कुछ भी लेना नहीं चाहता था, परन्तु मिश्र जी ने ठहरावे भाड़े से बहुत अधिक पूरी एक स्वर्ण मुद्रा सारथी को देकर विदा किया।

और स्वयं उस समय तक चम्पावती के सिरहाने बैठे रहे जब तक कि रथ दृष्टि से ओझल न हो गया।

सारथी के दृष्टि से ओझल होने के पश्चात् मिश्र जी ने चम्पावती को घोड़े पर लादा और पाटलिपुत्र का मार्ग छोड़ कर जंगल में घुस पड़े।

एक कोस तक निरन्तर जंगल में चलने के बाद एक स्थान पर मिश्र जी उतर पड़े। यह कोई प्राचीन मन्दिर था जो कई शताब्दी पूर्व निर्माता ने गंगा तट पर बनवाया होगा—शनैः शनैः गंगा मैया विशाल वन के लिए स्थान छोड़ती रहीं और अब वह मन्दिर बनके बीच में घिरा हुआ था। गंगा अब भी दूर थीं, परन्तु मानो शिव की जटाओं से निकलने वाली वैतरणी मन्दिर में आकर प्रतिमा स्वरूप हो जाना चाहती हो, स्वच्छ गंगा जल की एक पतली-सी

धारा कहीं दूर से कमान की तरह बलखाती हुई मन्दिर की सीढ़ियों का स्पर्श करती हुई पुनः कमान की भांति मुड़कर गंगा की ही ओर चली गई थी।

सम्भवतः यह मन्दिर किसी भक्त निर्माता की कुशल कारीगरी का नमूना था।

मिश्र जी को स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि बन के बीच इतना सुन्दर स्थान मिलेगा। मन्दिर के आगे लाल पत्थर का विशाल चौक था, जिसके तीन ओर पत्थर से खुदी हुई जाली की आड़ लगी हुई थी और एक ओर नीचे भूमि पर उतरने के लिए सीढ़ियां थीं।

घोड़ा वृक्ष से बाँध कर मिश्र जी ने सामान की गठरी सीढ़ियों पर रक्खी और चम्पावती की चादर अलग हटा कर उसमें जल के किनारे की पहली सीढ़ी पर लिटा दिया और स्वयं जल में खड़े होकर उसके शरीर पर अंजुली से जल उलीचने लगे।

मौत से बाजी लगा कर सोने वाली सुन्दरी चम्पावती पर जल का आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा, श्वांस गति शनैः शनैः सामान्य हो गई, और चम्पावती ने करवट बदली।

मिश्र जी को एक नई युक्ति सूझी, कौन पानी उलीचने का व्यर्थ कष्ट करे। उन्होंने चम्पावती को बांहों में उठाया और तनिक गहरे जल में जाकर बार-बार उसे डुबोने लगे।

लगभग दस पन्द्रह बार डूबने-उतराने के पश्चात् चम्पावती ने अंगड़ाई ली, मानो गंगा जल में कोई अप्सरा साकार हुई हो।

आंखें खुलीं...और उसी क्षण बन का वातावरण और अपरिचित चेहरा निहार कर वह चीख पड़ी।

और तभी तनिक और आगे बढ़कर उन्होंने उसे बांहों से मुक्त कर दिया। पानी गहरा नहीं था, परन्तु क्षण मात्र पहले बेहोशी से जागने वाली चम्पावती का मस्तिष्क अभी पूर्ण क्रियाशील नहीं था—वह पुनः चीखी—'बचाओ।'

चार कदम और बढ़ कर उन्होंने उसे फिर बांहों में थाम लिया और गम्भीर स्वर में पूछा—'मुझे बचाने की आज्ञा है न देवी ?'

'कौन हो तुम ?'

'चांडाल।'

'क्या ?'

और उसके मुख से 'क्या' शब्द निकलते ही मिश्र जी ने और दो कदम गहरे जल में जाकर चम्पावती को पुनः जल में छोड़ दिया।

'अरे अरे...नहीं नहीं...मुझे सहारा दो।' अब की बार वह निश्चल नहीं रही, कुछ हाथ पांव भी उसने मारे।

'सोच लो—जाति का चांडाल हूं।'

परन्तु अब की बार वह पानी काटकर स्वयं उनके निकट आ गई, और केवल उनकी बांह का सहारा लेकर सीढ़ियों की ओर चल दी।

पहली सीढ़ी के निकट पहुंचकर वह निश्चेष्ट—थकी-सी लेट गई। मिश्र जी जानते थे कि बेहोशी टूटने बाद सारा बदन बुरी तरह दुख रहा होगा, वह उससे कुछ बोले नहीं। वह चादर लेकर जिसमें चम्पावती को लपेट रक्खा था, मिश्र जी बरामदे में गये। गीले वस्त्र उतार कर ढलती धूप में फैला दिए और वह चादर लपेट कर लौटे।

पूछा—'क्या गीले वस्त्र उतारने का साहस नहीं कर सकोगी ? गीले वस्त्र उतार लो, तब तक मैं आग बनाए लेता हूं। बदन को सेंक लगेगी तो दर्द मिट जावेगा।'

चम्पावती ने दृष्टि उठाई, और शान्त स्वर में पूछा—'तुम कौन हो ?'

'चांडाल !'

'जन्म से तो चांडाल नहीं हो, अलबत्ता कर्म से चांडाल ही प्रतीत होते हो।'

निश्चय ही जन्म और कर्म की बात उसने मिश्र जी के यज्ञोपवीत को देख कर कही थी।

'जन्म और की मीमांसा की आवश्यकता ही क्या है ? गीले वस्त्र उतार दो। मैंने कहा न—जब तक गीले वस्त्र पहने रहोगी बदन दुखता रहेगा। मैं सूखी लकड़ी बीन लाता हूं। चकमक मेरे पास है।'

कुछ सूखी टहनियाँ तथा सूखे पत्ते बीनकर मिश्र जी ने मन्दिर के प्रांगण में एकत्र किए, फिर उसी चमड़े के थैले में से चकमक निकाल कर अग्नि प्रज्वलित की।

परन्तु चम्पावती वहीं जल के निकट पहली सीढ़ी पर निश्चेष्ट पड़ी थी।

'तो तुम्हारा इरादा गीले वस्त्र उतारने का नहीं ?'

आर्द्र-दृष्टि से मिश्र जी को निहार कर वह बोली—'मैं वेश्या नहीं हूं, और वेश्या भी अनजाने व्यक्ति के सम्मुख वस्त्र त्याग करने में संकोच कर सकती है। मैं तुम्हारे सामने वस्त्रहीन होकर बैठूं ? यही चाहते हो न तुम ?'

'मैं मानता हूं कि तुम वेश्या नहीं हो, मैं जानता हूं कि तुम उत्कलपति की चहेती और उनकी गुप्तचरी हो। परन्तु निस्सन्देह तुम मूर्ख हो। क्या तुम्हें यह गठरी रखी दिखाई नहीं देती ? इसमें

तुम्हारे वस्त्र हैं, आभूषण भी हैं, परन्तु अब यह सब मेरी सम्पत्ति है। उठो, गठरी उठाओ और ओट से जाकर सूखे वस्त्र पहन लो। एक-आध अगर बहुत प्रिय आभूषण हों तो वह भी पहनने की अनुमति है। शेष धन कभी तुम्हारा था—परन्तु अब मेरा है। पराए धन का मोह मत करना, उठो!'

बांह पकड़ कर मिश्र जी ने चम्पावती को उठने में सहायता दी।

मिश्र जी वहीं बैठ गए, जब उठे तब चम्पावती ने पुकारा—'आ जाइये!'

आग के निकट बैठी चम्पावती का शरीर स्वर्ण की भांति चमक रहा था। अब भी वह हल्के ही परिधान में थी। कंचुकि, हल्का रेशमी कटिबन्ध, एवं पतली सी ओढ़नी।

'शेष धन और वस्त्र—जिसके निस्सन्देह अब तुम स्वामी हो, सम्भाल लो—यह रक्खे हैं!'

मुस्कराते हुए मिश्र जी आग से कुछ दूर बैठ गये बोले—'धन्यवाद।'

'सम्भाल लीजिये, शायद मैंने कुछ चुरा लिया हो।'

'चुरा कर जाओगी कहाँ?'

इस प्रश्न को टाल कर उसने पूछा—'यह बात तो आसानी से समझ में आ गई कि मुझे रूपपुरी की अतिथिशाला से आप अचेत करके लाए हैं। अगर अनुचित न हो तो कृपया यह बता दीजिये कि यह स्थान कौन-सा है?'

'गंगातट, जल की यह स्वच्छ धारा गंगा की ही उपधारा है। गंगातट यहां से एक कोस दूर है।'

'क्या यह जान सकती हूं कि रूपपुरी से यहां तक का फासला कितना है?'

'लगभग पन्द्रह कोस?'

'पन्द्रह कोस तक मेरा भार उठाकर लाने वाले महानुभाव का परिचय जान सकती हूं?'

'लोग कहते हैं शंकर मिश्र, तुम चाहो तो शंकर चांडाल कह सकती हो?'

'अयोध्या के—गुप्तचर शिरोमणि शंकर मिश्र—परन्तु मैंने तो कुछ वर्ष पहले सुना था कि आप अयोध्या छोड़ कर···काशी···' कौतूहल से चम्पाती उठ कर मिश्र जी के निकट आई और गहन दृष्टि उनके चेहरे पर जमा कर बोली—'क्या सचमुच?'

'हां, अयोध्या के महाराज से कुछ बिगड़ गई थी, तब काशी चला आया था। वहाँ भेंट हो गई पाटलिपुत्र के महामंत्री अविनाश

से, वह पाटलिपुत्र ले आये, बरसों पड़ा वहाँ खाता ही रहा, अब की बार अविनाश कर्नाटक यात्रा पर जाते समय कुछ आदेश दे गये थे, सोचा नमक खाता हूं, इन्कार करना उचित नहीं होगा।'

चम्पावती ने रोष से आंखें मटकाई—'तो मिश्र जी महाराज, पाटलिपुत्र राज्य का नमक सार्थक करने के लिए मुझे ही अपना कोप भाजन बनाना था !'

'कोप भाजन तो जाने कौन-कौन बन चुका है, और कौन-कौन बनेगा। रही तुम्हारी बात, सो तुम कोप भाजन नहीं हो। अगर तुम कोप भाजन होती तो प्रातः से पूर्व रूपपुरी की अतिथिशाला में तुम्हारी लाश के तीन टुकड़े मिलते।'

मुस्कराने की बात तो नहीं थी, फिर भी मिश्र की बात सुन कर चम्पावती मुस्कराई—'कृपया यही कहिये कि मुझे कृपा भाजन क्यों बनाया ?'

'अकारण नहीं।'

'तो कारण बताइये न ?'

'जल्दी क्या है कारण भी जान लेना, अग्नि के निकट जाकर बैठो न, थोड़ा सेंक लगेगा तो बदन का दर्द मिट जायेगा।'

'बिना कारण जाने चैन नहीं आयेगा, मिश्रजी।'

'चैन तो जानकर भी न पा सकोगी, हृदय थामकर सुनो, तुमसे गान्धर्व विवाह करूंगा।'

'मिश्र जी !' चम्पावती के काटो तो खून नहीं, यह कल्पना भी उसके मस्तिष्क में नहीं आई थी !

'मैं कहता न था, सुनकर चैन नहीं मिलेगा। पीड़ा बढ़ेगी और सुख स्वप्नों का महल ढह कर चूर-चूर हो जायेगा ! मुझे तुमसे सहानुभूति है, परन्तु यह जानकर भी कि तुम गुप्तचरी हो, और विषकन्या के पीछे षड़यन्त्रकारियों का दल लेकर आई हो, मैंने तुम्हारी जान नहीं ली, बस इससे अधिक और तुम्हारे हित में मैं कुछ नहीं कर सकूंगा।'

'तुम मुझे पाटलिपुत्र ले जाकर दण्डाधिकारी के सम्मुख प्रस्तुत कर दो।'

'जानती हो, तुम्हें क्या दण्ड मिलेगा ?'

'यही कहना चाहते हो न कि मुझे प्राण दण्ड मिलेगा।'

'निश्चय ही तुम्हें प्राण दण्ड मिलेगा।

'मुझे स्वीकार है।'

'परन्तु मुझे स्वीकार नहीं !'
चम्पावती की आंखों में आंसू छलक आये।

मिश्र जी ने शान्त स्वर में कहा—'और मैं जानता हूं कि मैं तुमसे विवाह करके कोई पाप नहीं करूंगा। एक घर में है, दूसरी तुम होगी। साधारण व्यक्ति होकर भी तुमसे प्यार करूंगा, बच्चे बाले होंगे, पारिवारिक स्नेह एवं मोह उपजेगा। मेरा जीवन अब भी ऐसा है, और तुम्हारा ?'

'तुम्हें मेरे जीवन से क्या सरोकार ?'

'है, अवश्य है। क्या है तुम्हारा जीवन, महाराज जयवर्धन हों या समरसेन सब भंवरे तुम्हारे रूप-रस के ग्राहक हैं। जब रूप ढल जायेगा तब ? तब चम्पावती जी अपने प्रिय का अभाव तुम सह लोगी धन का अभाव भी तुम्हें नहीं खटकेगा, परन्तु अपनों का अभाव रूप के ढल जाने पर तुम्हारे हृदय को निरन्तर बेधता रहेगा और तुम्हारे लिये शेष जीवन एक अभिशाप बन जायेगा ! यह बात मैं एक प्रेमी के नाते तुमसे कह रहा हूं। आज्ञा हो तो शत्रु के नाते भी कुछ शब्द कहूं ?'

साहस और बुद्धि का बड़ा दम्भ था इस स्त्री को। परन्तु शंकर मिश्र के नाम ही ने उस पर जैसे प्रेत की छाया डाल दी थी। इतना बेबस उसने आज तक अपने को कभी न समझा था।

तनिक रुक कर मिश्र जी बोलते गये—'अगर तुमने प्रेमी की सलाह नहीं मानी तो शत्रु तुम्हारी जान नहीं लेगा। जानती हो

शत्रु क्या करेगा, वह तुम्हें दूर पहाड़ी प्रदेश में ले जायेगा और दासी के रूप में बेच आएगा !'

चम्पावती मौन रही, वह रो रही थी बस ?

मिश्र जी ने बिना कुछ कहे सुने उसे बांहों में उठाया और अग्नि के निकट बैठा दिया, और स्वयं बड़ी तेजी से वहाँ से चले गये।

बहुत देर तक मिश्र जी इधर-उधर जंगल में घूमकर पके फल बटोरते रहे, जब लौटे तो देखा बुझी-सी अग्नि के निकट नंगे फर्श पर चम्पावती लेटी थी। चेहरा उदास था, परन्तु रो नहीं रही थी !

'भोजन !' फल फर्श पर बिखेरते हुए मिश्र जी ने कहा।

'मुझे नहीं करना है भोजन !'

'परन्तु मुझे तो करना ही होगा ! ब्राह्मण की भूखी आत्मा सुबह से भटक रही है !'

मिश्र जी ने फल खाने आरम्भ कर दिये।

'ब्राह्मण जरूर हो, परन्तु दया ममता तुम्हारे हृदय में नाम मात्र को भी नहीं। खुद खाने बैठ गये, यह न हुआ कि बेजबान जानवर की रास भी खोल दें। क्या वह सुबह का भूखा-प्यासा नहीं है ?'

'अरे हाँ, यह तो मैं भूल ही गया था, कष्ट तो होगा जाकर जरा खोल दो।'

चम्पावती उठी, जाकर उसने घोड़े की रास खोल कर अपने हाथ में ली और पुकार कर कहा—'मिश्र जी, नमस्कार।'

मिश्र जी मुस्कराये—'नमस्कार चम्पावती जी।'

'मैं सचमुच जा रही हूं, मिश्र जी।'

'प्रयत्न कर देखिये, हो सकता है भाग्य साथ दे ही जाये।'

मरुस्थल में जल नहीं मिला करता, कहने की बात और थी। मिश्र जी से भाग जाने का साहस चम्पावती में नहीं था। अश्व को स्वतन्त्र चरने के लिये छोड़कर वह लौट आई, और भूख की व्याकुलता से फल उठाकर खाने लगी।

'एक सुझाव है मिश्र जी।' वह बोली।

'कहिये।'

'सांझ ढलने में विलम्ब नहीं। इस बीहड़ जंगल में कैसे रात कटेगी? सांझ ढलने से पहले इस जंगल से निकल चलिये न।'

'एक रात तो इसी जंगल में बितानी है! कैसे बीतेगी यह तुम पर निर्भर है? तुम चाहो तो यह रात मधुमय हो सकती है।'

निशा भवन।

पचास वर्ष पूर्व यह महल निशा नाम की एक रानी ने बनवाया था। इस महल के विषय में अनेक किंवदन्तियां प्रसिद्ध थीं। जिसका आशय था कि यह भवन मनहूस है, जो इसमें रहेगा उसका परिवार नष्ट हो जायेगा।

परन्तु देखने में महल सुन्दर था, अति सुन्दर!

रत्नमालिका को निशा भवन में जो सबसे अधिक पसन्द आई, वह वस्तु थी बावड़ी। बावड़ी का पानी ऐसा स्वच्छ था जैसे मोती, पसन्द आने वाली एक और वस्तु थी, वह थी बावड़ी की प्राचीनता बावड़ी का प्रयोग न होने के कारण उसमें अनेक सर्प आदि भी थे,

अत्यन्त विषधर नहीं थे फिर भी खेल और किलोल से वह सुन्दरी इनसे भी जी बहलाती थी।

अर्ध रात्रि तक रत्ना बावड़ी में जलक्रीड़ा करती रही थी, फिर कुछ देर दासियों सहित चौसर पर बैठी। तब भी भोर होते ही वह स्वभाव के विपरीत जाग पड़ी। आज उसके नेत्रों में मादकता कम थी और आर्द्रता अधिक। दासी को आज्ञा दी, आर्य आशु से कहो कि मैं उनके दर्शनों का पुण्य लाभ करना चाहती हूं!'

आशु आये, उन्हें आश्चर्य था रत्नमालिका के बुलावे पर। यह बात जुदा थी कि कभी-कभी वह स्वय आकर उसकी आवश्यकतायें पूछ जाते थे, अन्यथा वह अपनी आवश्यकतायें दासी से कहलवा भेजती थी।

'प्रणाम करती हूं, आर्य आशु।' वह बोली।

'धन्यवाद, देवी रत्ना।' आर्य आशु बैठते हुए बोले। वह यह जानते थे कि विष कन्याओं को चिरजीवी होने का आशीर्वाद नहीं दिया जाता!

'आर्य! आपको इसलिये कष्ट दिया है कि कोई ऐसा विद्वान बुलाइये जो स्वप्नों की सही व्याख्या कर सके।'

'सपनों की व्याख्या?' वृद्ध आशु चौंके।

वह जानते थे कि विषकन्यायें स्वप्न अवश्य देखती हैं, परन्तु उनके स्वप्नों में विषधर नाग राजाओं से सहवास और मृत्यु आदि संक्षिप्त विषय ही हुआ करते हैं।

'हाँ आर्य, स्वप्नों की व्याख्या कर सके, ऐसा विद्वान। आज रात मैंने विचित्र स्वप्न देखे हैं।'

'देवि, मुझसे कहें। इस विद्या की गुरु की कृपा से कुछ मुझे भी जानकारी है।'

रत्ना ने संकेत से दासियों को कक्ष से बाहर जाने का संकेत किया। एकान्त पाकर बोली—'पहला स्वप्न मैंने तीसरे पहर के प्रारम्भ में देखा, आर्य। लगा मानो कोई स्त्री मेरे सिरहाने खड़ी है, बोली, तू यहाँ क्यों आई है, यह महल अन्य राजमहलों की भांति भ्रष्ट नहीं है, यह मेरा महल है। मैंने प्राण देकर भी इसकी पवित्रता भंग नहीं होने दी है, तू यहाँ किसी का अहित नहीं कर सकेगी। और आर्य, जैसे ही मैं यह बात सुनकर जागी मुझे ऐसा लगा मानो वह स्त्री आकाश की ओर चली गई हो, उसी क्षण मैंने टूटता हुआ एक तारा भी आकाश में देखा।'

आशु मुस्कराये—'देवि, यह तो मिथ्या कथन और भ्रम से उत्पन्न स्वप्न है। जानता हूं कि बाहर सैनिकों में जो बातें होती हैं वही दासियां अन्दर आकर तुम्हें सुना देती हैं। इस महल के विषय

थें अनेकों व्यर्थ की बातें सैनिकों में हो रही थीं, वह तुम तक पहुंची न ?'

'जी !' रत्ना ने स्वीकार किया।

'एक कारण और भी इस स्वप्न से सम्बन्धित है। चम्पावती जी की चतुरता का लोहा महाराज भी मानते हैं। उनके एकाएक गुम हो जाने का भी समाचार तुम तक पहुंचा होगा ?'

रत्ना ने स्वीकार किया, स्वप्न का निराकरण हो गया। एक भयभीत करने वाली किंवदन्ति और एक निराशाजनक समाचार दोनों के मस्तिष्क में सम्मिश्रण का प्रभाव था पहला स्वप्न।

भ्रम का पर्दा कुछ हटा। तनिक मुस्कराती हुई रत्ना ने कहा—'अब दूसरा स्वप्न सुनिये, आर्य आशु। यह स्वप्न मेरा अनुमान है कि चौथे पहर में मैंने देखा है। हम सब, साथ में आप भी हैं, तथा सैनिक और दासियाँ भी हैं। पाटलिपुत्र की सीमा रूपपुरी से लौटकर उत्कल की ओर जाने के लिये नौका में बैठे हैं। नौका बढ़ती है, साथ-साथ मृदुला का पाट भी बढ़ता जाता है, परन्तु रूपपुरी की ओर नहीं, मधुपुर की ओर। नदी उमड़ रही है और नौकायें डूबने लगती हैं। एक शक्तिशाली हाथ, विराट हाथ आकाश से निकलता है और मेरी बाँह पकड़ लेता है। मैं आकाश और जल के बीच उस बलिष्ठ हाथ के सहारे लटकी आप सबको डूबता हुआ देख रही हूं। आंखें खुलती हैं तो बाँह में दर्द महसूस करती हूं !'

यह स्वप्न सुनकर एक बारगी आशु का कलेजा कांप उठा। वह क्षत्रिय था, जब युवक था तो अनेक युद्धों में भाग लेकर उसने राजभक्ति के ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत किये थे। साथ ही वह विद्वान भी था, वह जानता था कि इस स्वप्न का क्या अर्थ है। परन्तु उसे रत्ना के सम्मुख वह प्रकट नहीं कर सकता था। कई वर्षों से वह विष कन्या गृह का प्रबन्धक था। अपना कर्त्तव्य वह भली-भांति पहचानता था।

प्रकट में वह मुस्कराया—'यह प्रभावहीन स्वप्न है, देवि रत्ना पहला स्वप्न देखने के बाद तुम्हारी आँख खुल गई, मन में अनिष्ट की भावना के साथ २ व्यक्तिगत सुरक्षा की भावना भी रही होगी, फलस्वरूप इस स्वप्न की रचना हुई।'

'मुझमें, सुरक्षा की व्यक्तिगत भावना ? क्या कह रहे हैं आर्य मनुष्य जाति में जन्म लिया है, स्त्री हूं, पहचानते हुए भी जानती हूं कि मेरा जीवन कीट से भी अधिक अस्थाई है। एक राज्य कर्तव्य की पूर्ति मात्र है मेरे जीवन का उद्देश्य, एक बाण के समान है जो प्रत्यंचा से निकल कर अपना लक्ष्य वेधता है, और समाप्त हो जाता है।'

'यह ठीक है देवि, मानवीय कर्तव्य जुदा होते हैं, परन्तु मानव स्वभाव एक ही ढंग से सोचता है।'

'आपका विचार है कि मुझमें व्यक्तिगत सुरक्षा की भावना है ?'

'निस्संदेह है, परन्तु प्रत्यक्ष नहीं, परोक्ष रूप में।'

'अच्छा आर्य, तीसरा स्वप्न और सुनिये। यह भोर का सपना है। कोई गांव है, जाने कहां, मैं बैठी गाय दुह रही हूं कि एक बलिष्ठ युवा कन्धे पर हल रखे और गोद में तीन-चार वर्ष के बालक को उठाये मेरे निकट आता है। युवा व्यक्ति बस मुस्करा रहा है और बालक मुझे सम्बोधित करके कहता है, मैं जवान हो गया हूं मां, बाप बूढ़े हो गये हैं। जाता हूं खेत में हल चलाने। कलेवा जल्दी लाना। बालक की बात सुनकर मैं मुस्कराती हूं—'बेटा मैं भी तो बूढ़ी हूं, छोटी सी दुलहन ब्याह कर ले आओ, वह तुम्हारा कलेवा लेकर खेत पर जाया करेगी।' बालक पिता की गोद से उतर कर आता है, मुझे गुदगुदाने लगता है। बस आंख खुल जाती है।'

इस बार आशु रत्ना से अपनी गम्भीरता नहीं छुपा सके। कुछ क्षण भर सिर झुकाये रहे फिर बोले—'देवि, स्वप्न गूढ़ है, विचार में समय लगेगा। हां, एक समाचार है देवि···।'

'कहिए।'

'आज सांयकाल तक महाराज समरसेन रूपपुरी पधार रहे हैं।'

यह समाचार सुनते ही रत्ना के मुख की आर्द्रता समाप्त हो गई। कपोल गुलाबी हो गये और आंखों में मादकता छा गई। उल्लास भरे स्वर में वह बोली—'तो प्रतीक्षा की घड़ियां समाप्त हुईं, आर्य?'

'हां देवि, कौन जाने आज रात ही··· आज तुम्हारी व्यस्तता शृंगार और संगीत में होनी चाहिये।'

'जो आज्ञा आर्य।'

सहवास के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त होने वाला व्यक्ति कुछ क्षण का आनन्द अपनी मृत्यु का प्रतीक विष कन्या को भी देता है।

आनन्द का तो सभी स्वागत करते हैं।

रत्नमालिका के लिए यह आनन्द अभी अछूता था। रोमांचित होकर उसने तुरन्त शैया त्याग दी और दौड़ती हुई बावड़ी तक गई। वस्त्र उतारे और उगती धूप में एक अंगड़ाई लेकर बावड़ी की जगत से ही नीचे जल में छलांग लगा दी।

भेद भाव मनुष्य के स्वभाव का विकार है। प्रकृति में भेद-भाव के लिये स्थान नहीं है, भोर की अरुण रक्तिम किरणें जहाँ रत्न-मालिका, समरसेन तथा उनके एक सहस्त्र अंग-रक्षकों और एक सौ एक दासियों पर भी पड़ी।

और भोर की किरणें मिश्र जी पर भी पड़ी, जो चम्पावती की हल्की सी चुनरी ओढ़े निश्चिन्तता की नींद सो रहे थे।

भोर की किरणों ने चम्पावती के सौन्दर्य को भी प्रकाश से भर दिया, जो स्नान करके अंजलि में जल भर सूर्य को अर्घ्य देती हुई श्रद्धा और भक्ति से इस प्रकार कह रही थी मानो सूर्य देव निकट ही खड़े सुन रहे हों—'हे सूर्यदेव, तुम्हारा ही प्रकाश दान पाकर

चमकने वाले चन्द्रदेव और कोई २ तारक दल साक्षी थे कि जीवन में पहली बार मैंने गंगा मैया की लहरों की उपस्थिति में अपना हृदयेश स्वीकार किया है। मेरे अपराधों को क्षमा करना और मेरा सुहाग अचल रखना।'

अर्घ्य देकर चम्पावती जल से निकली। सिकुड़ी सी मांसल बाँहों से उन्नत उरोजों को छिपाती हुई वह निद्रामग्न मिश्र जी के निकट पहुंची। कुछ निहारती रही फिर तनिक झुकी, हाथ आगे बढाया, किन्तु फिर हाथ पीछे करके मुस्कराई, घुटनों के बल बैठी और माथा मिश्र जी के पांवों से लगा दिया।

उठ ही तो बैठे मिश्र जी—'सती ! हम तुम्हारी भक्ति देखकर प्रसन्न हुए।'

चौंककर चम्पावती शीघ्रता पूर्वक खड़ी हो गई—'मैं कहती हूं, तुम्हें मेरी सौगन्ध है, आँखें मूंद लीजिये, मूंद लीजिये आँखें, नहीं तो ··नहीं तो डूब मरूंगी जाकर भगवान साक्षी है।'

'अरे बाबा ! क्यों मुझे डराने के लिए सौगन्ध और साक्षी की सेना खड़ी किये दे रही हो ? लो, मूँद ली आंखें।'

दौड़कर चम्पावती मंदिर के बरामदे में चली गई। कपड़े पहनती जा रही थी और जोर २ से कह रही थी—'निर्लज्ज कहीं के, लाज नहीं आई तुम्हें इस तरह आंखें फाड़-फाड़ कर देखते···सीधी सी मिश्राणी होंगी घर में, अब पता लगेगा आटे दाल का भाव।

मन ही मन सोचते होंगे कि पराजित चम्पावती, निरीह आहत हिरणी की भांति मूक नयनों से तुमसे दया की भिक्षा मांगेगी ! अहा हा, बड़े प्रसन्न हो रहे होंगे मन में मिश्र जी महाराज, मैं हिरणी नहीं हूं, बाघिन हूं···शेरनी···सुन रहे हो न ?'

शीघ्रतापूर्वक कपड़े पहन कर चम्पावती मिश्र जी के पास आकर बैठती हुई बोली—'पूछती हूं कि जबान मुंह में नहीं है ?'

मिश्र जी हंसे—'जबान तो है, परन्तु सामने शेरनी जो है ?'

'सो तो है ही, भला इसमें क्या संदेह है ?'

'संदेह भी है।'

'क्या कहा ?'

'शिकारी बेचारा शिकार के सामने क्या कहे ? अलबत्ता इतना हम भरे दरबार में कहेंगे कि शिकार हिरणी का अवश्य किया है, परन्तु हिरणी विचित्र है। आहत होकर भी चंचल है और वाचाल भी !'

'क्या ?' आंखें तरेर कर चम्पावती बोली—'फिर तो कहो, क्या कहा ?'

'कहूं···?'

'हां।'

मिश्र जी झपटे, और दूसरे क्षण चम्पावती उनके बाहुपाश में थी।

'मैं कहती हूं छोड़ दो !'

'शेरनी शिकारी से विनय करें, यह तो अच्छा नहीं लगता।'

'तो तुम नहीं छोड़ोगे ?'

'नहीं।'

'नहीं ?'

'एक बार नहीं, सौ बार नहीं।'

चम्पावती ने मुक्त होने का प्रयत्न किया। बाहु-बन्धन और कस गये।

'बड़े बुरे हो।'

'सच ?'

'हटो। जल्लाद कहीं के।'

'जल्लाद नहीं, शिकारी—और वह भी हिरणी का शिकारी।'

'अच्छा महाराज, अच्छा ! जोर आजमाई ही करते रहोगे या कुछ सुनोगे भी ?'

'कहो न, सुन रहा हूं।'

'यहां से चलो।'

'कहां ?'

'पाटलिपुत्र, जरा मिश्राणी जी भी तो सुनें—कि सौत आई है।'

'मिश्राणी जी के सुनने का मुहूर्त तो अभी नहीं आया है, अभी रूपपुरी चलना है।'

'क्यों ?'

'वहाँ विष कन्या जो है।'

'पहले मुझे घर छोड़कर आओ, फिर जहां इच्छा हो वहाँ जाना।'

'खूब।'

'खूब क्या ?'

बाहु-बन्धन ढीले पाकर चम्पावती उठकर बैठ गई। मिश्र जी बोले—'मैंने तुमसे इसलिये विवाह नहीं किया है कि ले जाकर तुम्हें घर में सजा दूँ। ऐसी एक है, घर में। तुम्हें उस समय तक मेरे कार्यों में सहयोग देना होगा, जब तक कि···।'

आगे मिश्र जी नहीं बोले। एक सुखद मुस्कान उनके मुख पर छा गई।

'कब तक ?'

'जब तक कि मेरे पुत्र को जन्म न दे दो।'

यह सुनकर चम्पावती लजाई नहीं। आँखें मटका कर बोली, 'बड़े सुन्दर हो न ?'

'इसलिये पुत्र भी सुन्दर होगा।'

'सुना है गन्धर्व विवाह वाली पत्नी की कोख से काना पुत्र होता है ?' चम्पावती मुस्कराई।

'शंकर मिश्र से ऐयारी नहीं चलेगी, श्रीमती जी। गंधर्व विवाह वाली पत्नी से जो पुत्र होता है उसकी तीन आँखें होती हैं। अच्छा, तो मैं स्नान आदि से निवृत्त होता हूं, तुम घोड़े को जरा फिर चरने छोड़ दो और कुछ फल इधर-उधर से बटोर लो कलेवा करके फिर चलेंगे।'

'जरा सुनो।' उठते हुए मिश्र जी को चम्पावती ने हाथ थाम कर रोका—'क्या रूपपुरी में तुम मुझ पर विश्वास कर सकोगे ?'

'अविश्वास का कोई कारण भी तो नहीं है।'

'कारण तो अनेक हैं—वहाँ वीरसेन है, मेरे संकेत मात्र से वह तुम्हारी गर्दन उतरवा सकता है।···मेरे साजवादक और सेवक सम्भवतः तुम नहीं जानते कि वह सब चुने हुये योद्धा हैं। एक संकेत मात्र से वह तुम्हारा अस्तित्व समाप्त कर सकते हैं। मृदुलावती के

पार उत्कल पति जयवर्धन विशाल सेना सहित पड़ाव डाले पड़े हैं—क्या यह सब अविश्वास के पर्याप्त कारण नहीं ?'

'ऊँ हूं। विश्वास का कारण इतना सबल है कि उनके सम्मुख यह सभी कारण गौण हैं ?'

'विश्वास का सबल कारण क्या है ?'

'जब रात आधी बीत गई तो मुझसे रूठी हुई एक सुन्दरी जो मुझसे दूर लेटी हुई थी, मेरे निकट आई और मुझे गहरी नींद से जगाया। मुझे बांह पकड़ कर उठाया और मौन बिना कुछ कहे-सुने मुझे जल के निकट ले गई।। अंजुलि में जल भरकर उसने आजन्म साथ निभाने की प्रतिज्ञा की !'

'अहा हा···वह सब नाटक भी तो हो सकता है।' तनिक लजाकर चम्पावती ने कहा।

'हां, वह नाटक भी हो सकता है। रात के अंधेरे में जंगली फूलों की वरमाला—वह भी नाटक का एक दृश्य हो सकता है—परन्तु किसी के वह आँसू जिन्होंने मेरा वक्ष भिगोया था, नाटकीय नहीं थे। कहो, क्या वह भी नाटकीय थे ?'

'मैं क्या जानूं ?' चम्पावती दृष्टि झुकाये ही बोली।

'मैं जानता हूं। यह विगत जीवन के प्रति पश्चाताप के आंसू थे, उन आंसुओं में नये जीवन के प्रति विश्वास की झलक थी।'

'मैं स्त्री हूं मिश्र जी, बुराइयों में जन्मी थी और षड़यंत्रों में पली हूं। हंसी की बात नहीं, मैं गम्भीरतापूर्वक कह रही हूं—मुझे संभलने का अवसर देना। तुम्हारा पूर्ण विश्वास पा सकूं, अभी मैं इस योग्य नहीं हूं।'

'तुम किस योग्य हो यह मैं जानता हूं।'

'एक रात की मुलाकात में ही सब जान गये ?'

'हां, एक असाधारण रात में ही तुम्हें इतना जान गया हूं, जितना जन्म-जन्मांतर के साथी को जानना चाहिए।'

चम्पावती कुछ बोली नहीं। कृतज्ञता के आंसुओं की कुछ बूंदे आंखों से गिरीं और भूमि में समा गईं।

और वीरसेन—

चम्पावती के एकाएक गायब हो जाने से, उसकी सारी रात आंखों में कटी। चारों ओर सैनिक दौड़ाये गये···किन्तु व्यर्थ।

भोर होते ही पहला सन्देश उत्कलपति जयवर्धन का मिला—उनके एक दूत ने आकर वीरसेन को मौखिक सन्देश सुनाया—'चम्पावती के गुम होने का समाचार पाकर महाराज बहुत क्रोधित हुए हैं। उन्होंने कहा है कि सामन्त यह जान लें कि अगर चम्पावती न मिली तो उत्कल एवं पाटलिपुत्र का चाहे जो हो सामन्त का शीश उसके बदले में लिया जायेगा।'

एकबारगी वीरसेन के सम्राट बनने के इरादे डावांडोल हो गए।

सुबह का पहला पहर बीता तो महाराज समरसेन के घुड़सवार सन्देशवाहकों ने आकर सन्देश दिया—'सांझ से पूर्व ही महाराज रूपपुरी पधार रहे हैं।'

वीरसेन की मनोकामना पूरी हुई। परन्तु चम्पावती···?

भयभीत वीरसेन ने महाराज समरसेन के रूपपुरी पधारने की सार्वजनिक घोषणा की। नगर के द्वार सजाने का आदेश दिया, परन्तु जयवर्धन की धमकी, उसे लगा मानों उसके पांव कांप रहे हों।

प्रहरी ने समाचार दिया—'कटक से सेनानायक का दूत वचन, नर्तकी चम्पावती को लेकर आया है।'

'क्या···!' परम्परा के विरुद्ध वीरसेन स्वयं द्वार की ओर दौड़ा।

इतनी खुशी उसे जीवन में आज तक नहीं हुई थी!

उसे तब विश्वास हुआ जब चम्पावती का कमल के समान खिला हुआ चेहरा उसने खुद देख लिया।

नतमस्तक वचन रूपी मिश्र जो कह रहे थे—'महाराज, गंगा

कि बीहड़ कछार में से इन्हें चालीस लुटेरों के बीच से लाया हूं। वह तो गनीमत हुई कि उस समय मैं जाग रहा था जब डाकू दीवार फांदकर अतिथिशाला में आए, अन्यथा कौन जानता कि चम्पावती कहां चली गई ?'

'शाबाश, वचन शाबाश ! चम्पावती जी, आपके कारण एक नहीं, अनेक चिन्तित थे। आप आ गईं मानों अनेकों का भाग्य लौट आया ! आओ वचन, तुम भी आओ।'

कक्ष में ले जाकर सामन्त ने दूसरी परम्परा तोड़ी—और चम्पावती तथा मिश्र जी को अपने निकट मसनद पर बैठाया।

सुरा के प्याले प्रस्तुत किये गए, वातावरण में मादकता छाने लगी।

कुछ क्षण के बाद चम्पावती ने आज्ञा मांगी—'मुझे आज्ञा दीजिये श्रीमन्त, बहुत थकी हूं।'

'आज—और थकावट ? सुना नहीं महाराज समरसेन पधार रहे हैं ?'

'सुना है महाराज, नगर में प्रवेश करते ही यह चर्चा सुनी थी।'

'आज तुम नाचोगी···ऐसा नृत्य जो महाराज के जीवन में प्रलय का प्रारम्भ करेगा।'

'अवश्य नाचूंगी श्रीमन्त, परन्तु महाराज के आगमन से पूर्व एक पहर के विश्राम का समय देना होगा।'

'ऐसा ही सही, मैं बहुत खुश हूं—बहुत खुश हूं। कुछ मांग लो, चम्पावती ?'

'जो देना हो इन्हें दीजिए, इन्हीं की कृपा से तो···।' चम्पावती ने मिश्र जी की ओर संकेत किया।

'यह कुछ नहीं लेंगे, यह तुम फिर जानोगी कि यह कुछ नहीं लेंगे। मेरे मित्र वचन, मेरा एक काम करोगे ?'

'आज्ञा दीजिये महाराज···?'

'तुम्हें, मधुपुर जाना होगा। महाराज जयवर्धन तुम्हें पहचानते तो नहीं ?'

'नहीं महाराज।'

'तुरन्त जा सकोगे ?'

'क्यों नहीं ? मैं सैनिक हूं महाराज। पुरुष हूं, स्त्री नहीं।' मिश्र जी ने चम्पावती पर कटाक्ष किया।

'यह लो अंगुलिमाल।' अपनी अंगूठी उतार कर वीरसेन ने कहा—'तुम्हें महाराज जयवर्धन को मेरा एक सन्देश देना होगा।'

'आज्ञा दीजिए।'

'उनसे कहना कि चम्पावती सुरक्षित रूपपुरी लौट आई है··· और कहना कि आज ही जब आधी रात बीत जाए पाँच हजार जवानों सहित मृदुला के तट पर मेरे संकेत की प्रतीक्षा करें।'

'जो आज्ञा।'

हाथ बढ़ाकर वीरसेन की परिचायक अंगूठी मिश्र जी ने ले ली—'एक निवेदन है, श्रीमन्त !'

'कहो ?'

'अगर राह में कोई बाधा प्रस्तुत न हुई हो तो सेनापति कन्यक निश्चित स्थान पर पहुंच चुकी होंगी।'

'ओह हां, खूब याद दिलाया ! अभी लो···प्रहरी !' वीरसेन ने पुकारा।

प्रहरी ने आकर अभिवादन किया।

'कोषाध्यक्ष से कमलकुंज भवन की कुंजी लाओ। और सुनो··· एक आदेश पत्र भी लिखाकर लाओ, आशय है—इन मान्य अतिथियों को कमलकुंज में ठहरने की आज्ञा दी जाती है।'

कुछ देर बाद कमलकुंज में निवास का अधिकार पत्र और कुंजी मिश्र जी को मिल गई।

वीरसेन निरन्तर पीए जा रहा था अब वह कुछ आपे से भी बाहर हो गया था। सुरा ढालने वाली दासी को उसने अपनी गोद में खींच लिया, और तनिक अटकता हुआ बोला—

'चम्पावती जी, एक बात याद रखना। वीरसेन को ईश्वर के दिये निज भाग्य पर गर्व है। महाराज जयवर्धन यह समझते हैं कि मैं उनसे डरता हूं। वह भूल करते हैं—जबरदस्त भूल। ठीक है कि मैंने उनसे कुछ सहयोग लिया, कुछ और भी सहयोग लूंगा। परन्तु किसी अवसर पर उन्हें सहयोग दूंगा भी। और वह मुझे सहयोग देकर कोई एहसान मुझ पर नहीं कर रहे हैं, हम दोनों एक ही मार्ग के राही हैं, हम दोनों का एक स्वार्थ है। इसलिए...' पागल की तरह ठहाका मार कर हँसते हुए वीरसेन ने कहा—'जाओ चम्पावती विश्राम करो। कभी जब महाराज जयवर्धन से भेंट हो तो उनसे कहना कि वीरसेन संसार में किसी से नहीं डरता। किसी से नहीं··· बचन तुम अभी गये नहीं···ओह समझा। तुम्हारा अश्व थक गया, तुम मेरा अश्व ले जाओ प्रहरी···प्रहरी।'

और प्रहरी को वीरसेन ने आदेश दिया—'हमारे इन मित्र को हमारा सबसे बढ़िया घोड़ा दो···और···और पालकी लाओ। चम्पावती जी अतिथिशाला जायेंगी।'

वीरसेन के कक्ष से चम्पावती और मिश्रजी साथ-साथ निकले। प्रहरी प्रबन्ध के निमित्त तेजी से आगे निकल गया।

'सुनो, मुझे मधुपुर जाना होगा—और सम्भव है लौटने में रात हो जाए।' मिश्र जी ने धीमे स्वर में कहा।

'पागल हुए हो ! क्या करोगे मधुपुर जाकर ?'

'काम है।'

'सिर है तुम्हारा, अगर महाराज समरसेन को समय पर सूचना न मिली और यह निशा भवन तक पहुंचा दिये गए तो···?'

'उन्हें समय पर सूचना नहीं मिलेगी और वह निशा भवन जायेंगे भी !'

'क्या ?'

'शंकर मिश्र जब बाजी बिछाता है तो खेल अधूरा नहीं छोड़ता। महाराज समरसेन से मुझे कोई सरोकार नहीं। मैं अपना काम करूंगा। तुम्हें बस इतना करना है कि जब तक मैं न लौटूं तब तक महफिल कुछ ऐसी जमाना कि महाराज को उठने का मौका न मिले !'

'क्या अब भी मुझे महफिल जमानी होगी ?'

'केवल आज की रात···।'

'नहीं।'

'मेरी सौगन्ध ! मेरे लिए !'

चम्पावती के लिए पालकी आ गई।

'विदा।' मिश्र जी ने धीरे से कहा।

प्रहरी कह रहा था—'आइये, घोड़ा छांट लीजिए।'

पालकी में बैठ कर एक बार चम्पावती ने मिश्र जी की ओर निहारा और वह एक रहस्यमयी मुस्कान से उन्हें आश्वस्त कर गई।

कुछ देर बाद हवा से बातें करता हुआ सामन्त का घोड़ा मृदुलावती की ओर दौड़ा जा रहा था।

बड़ी आतुरता से मिश्रजी ने नाव पर,घोड़े सहित मृदुलावती पार की। मृदुलावती में कल रात से यात्री नावों का तांता लगा था। एक ही चर्चा थी—बंगदेश की महाकाली की। दर्शन के लिए इतने यात्री पहले कभी नहीं आए थे।

मिश्र जी की नाव बड़ी कठिनाई से मार्ग बनाकर यात्री समुदाय की नावों में से निकल पाई। यात्री-नाव में बैठे, कुछ मुस्टंडे यात्रियों को चिमटा बजा कर कीर्तन करते मिश्र जी ने भी देखा। यह बंगदेश की महाकाली के यात्री हैं ? नहीं।

देखने में बूढ़े, किन्तु बाघ से सेनापति रुद्रभानु का दृढ़ निश्चयी

चेहरा मिश्र जी के स्मृति पटल पर उभर आया। नदी पार करते ही उन्होंने फिर घोड़े को हवा की चाल से दौड़ाया।

मधुपुर पहुंचते-पहुंचते घोड़ा पसीने में नहा गया महाराज जयवर्धन से साक्षात् करने से पूर्व उस दुर्गपाल से भी भेंट करनी पड़ी जिससे मिश्र जी पहले व्यापारी के रूप में मिल चुके थे। किसी समय आवश्यकता पड़े इसलिये उसकी मुद्रिका एवं हस्ताक्षर सहित कोरा पत्र भी मिश्र जी ने बड़े यत्न से अपने पास रख छोड़ा था।

दुर्गपाल स्वयं मिश्र जी को महाराज जयवर्धन के पास ले गया।

सम्मान सहित वीरसेन की अंगूठी उंगली से उतार कर अधेड़ महाराज के सामने बढ़ाते हुए मिश्र जी ने कहा—'सन्देश वाहक हूं महाराजाधिराज, शुभ समाचार लाया हूं।'

'कहो।' उत्सुकता से जयवर्धन बोला।

'सामंत वीरसेन का प्रथम सन्देश है कि चम्पावती देवी सुरक्षित [illegible]पुरी लौट आई हैं।'

'कहां गई थी वह ?'

'चम्पावती देवी ने यह बात मुझे बतानी उचित नहीं समझी, श्रीमान।'

'ओह, अच्छा !'

'सामंत की आज्ञा है कि दूसरा सन्देश मैं केवल आपसे कहूं !'

दुर्गपाल तथा अन्य उपस्थित व्यक्तियों को महाराज ने हट जाने का संकेत किया।

धीमे स्वर से मिश्र जी ने कहा—'आज जब आधी रात बीत जाये पांच हजार सहस्त्र जवानों सहित मृदुलावती के तट पर आप सामंत के संकेत की प्रतीक्षा करें।'

जयवर्धन के चेहरे पर मुस्कान फैल गई।

'तुम वीरसेन के सैनिक हो ?'

'नहीं महाराज, सेवक भाट है—

'जैसे मृगराज के छौना गजराज पै,
छोटे-छोटे घावन, करत आय घाव है।
तैसे लड़कपन ही से महाराज जयवर्धन ने,
भारी फौज मारी मानो अंगद का पांव है।

'......।'

'बस-बस।' महाराज जयवर्धन ने सोचा कि भाट को मुंह लगाने से समय व्यर्थ होगा—'दस स्वर्ण मुद्रा तुम्हें मिल जायेंगी। जाओ, लौट जाओ...लोहा बजने से पहले रूपपुरी पहुंच जाओ !'

'महाराज सन्देश प्राप्ति की लिखित रसीद देने की कृपा करें।'

'कैसी लिखित रसीद ?'

'लिखित रसीद लाने की सामन्त ने आज्ञा दी है, महाराज। इसके बिना पांच मुहरें सामंत के दरबार से नहीं मिलेंगी अन्नदाता।'

'लो हमारा अंगुलिमाल ले जाओ।' अंगूठी उतार कर मिश्र जी को देते हुए जयवर्धन ने कहा—'इसे देखकर सामंत को तसल्ली हो जाएगी !'

अँगूठी लेकर मिश्र जी ने माथे से लगाई।

'अब तुम जा सकते हो।'

'अन्नदाता ने दस स्वर्ण मुद्रा के लिए···।'

'भाट, तुम लोभी हो, इस अंगुलिमाल का मूल्य जानते हो? यह अमूल्य है। फिर भी दस···स्वर्ण मुद्रा···।'

'आप अन्नदाता हैं श्रीमान्···।'

'दुर्गपाल ?' जयवर्धन ने पुकारा।

और चलने से पूर्व मिश्र जी ने दस स्वर्ण मुद्राएँ भी प्राप्त कर लीं।

घोड़े का पसीना अभी तक नहीं सूखा था। बाजार से गुजर रहे थे, वीरसेन का यह अरबी घोड़ा तीस स्वर्ण मुद्रा लेकर मिश्र जी ने बेच डाला और पांच रजत मुद्रा में मृदुला के तट तक के लिये रथ निश्चय करके उसमें बैठ गए।

आराम भी मिला और धन भी।

रथ मृदुला के तट की ओर दौड़ रहा था।

परन्तु साँझ ढल रही थी।

'आज रूपपुरी में क्या होगा ?' मानो ढलता हुआ सूरज संकेत से पूछ रहा था।

शंकर मिश्र रूपपुरी में चौसर तो बिछा आए थे, परन्तु बाजी में हार होगी या जीत ? शायद डूबता हुआ सूरज इसी शोक में था।

रात हो गई थी। महाराज समरसेन के आगमन के लिये खप-पुरी में आज दीपावली मनाई जा रही थी—सारा नगर उत्सव में मग्न था।

मिश्र जी ने अतिथिशाला में पहुंच कर अपना घोड़ा लिया, और वीरसेन के महल के प्रबन्ध को वीरसेन की अंगूठी दिखाकर स्वर्ण पत्र मंडित पालकी एवं आठ दास प्राप्त कर लिये।

नगर से अलग बने निशा भवन पर मिश्र जी पालकी लेकर पहुंचे। निशा भवन भी आज विशेष रूप से सजा हुआ था।

द्वार पर जाकर मिश्र जी कुछ बोले नहीं, बस प्रहरी के सम्मुख हाथ बढ़ा दिया। उंगलियों में वीरसेन और जयवर्धन की परिचा-

यक दो अंगूठियां थीं।

'आज्ञा ?' विनीत प्रहरी ने पूछा।

'आर्य आशु ?'

'आइए।'

'मिश्र जी को प्रहरी आशु के पास ले गया।

उन दो अंगूठियों को देखकर आशु का सिर सम्मान से झुक गया।

'देवी के लिये पालकी लाया हूं। वह मेरे साथ जायेंगी—महाराज जयवर्धन और वीरसेन सामंत का आदेश है।'

'परन्तु ?' आशु को अचम्भा था, कार्यक्रम अकस्मात् बदल कैसे गया ?

'महाराज और सामंत का एक और आदेश है, आप अपने सैनिकों सहित तुरन्त महाराज से जा मिलें—परन्तु घाट से आपको मृदुला पार नहीं करनी है। तीन कोस उत्तर में मल्लाहों और मछेरों की बस्ती है, वहां से नदी पार करने का आदेश है—आदेश है कि कामरूप का सैनिक वेश उतार दिया जाये, दस-दस कोस तक उत्कल सैनिकों की नदी पर निगरानी है उन्हें असली परिचय देने में मत हिचकिएगा। महाराज के निकट आपको आधी रात से पहले पहुंच जाना है।'

'महाराज कहाँ है ?'

'मृदुला के पार, सैनिकों सहित वह आधी रात के तुरन्त बाद रूपपुरी पधार रहे हैं।'

आशु कुछ सोच रहा था।

'आर्य, सोचने-विचारने का समय नहीं है, समरसेन के साथ सो गुप्तचर भी हैं। दीवारों के भी कान होते हैं...।'

इस वाक्य ने आशु पर जादू का-सा असर किया—'रत्ना को तुरन्त बुलाओ।'

उसने प्रहरी को आदेश दिया। फिर एक दूसरे सैनिक से वह बोले—'चन्द्रमित्र से कहो कि कूँच की तैयारी करे।'

आतुर होकर मिश्र जी ने कुछ क्षण प्रतीक्षा में बिताए।

और फिर वह क्षण भी आया, जब आशु का कक्ष मधुर सुवास से भर गया। रत्नमालिका दो दासियों सहित कक्ष में प्रविष्ट हुई।

मिश्र जी ने एक बार पहले भी रत्ना को देखा था, परन्तु आज तो शृंगार ने मानो सौन्दर्य को हजार गुना बढ़ा दिया था इतना उत्कृष्ट फूलों का शृंगार आज तक उन्होंने नहीं देखा था।

'देवि, तुम्हें अकेले इनके साथ जाना होगा। ऐसा महाराज

जयवर्धन का आदेश है।'

'महाराज की आज्ञा शिरोधार्य है, आर्य।' रत्ना ने कहा।

'तब आज्ञा दीजिए आर्य।' मिश्र जी बोले।

आशू स्वयं रत्ना को पालकी तक छोड़ने आया। दासों ने एक बार 'हैया हो' उच्चारित किया और पालकी उठा ली।

'नमस्कार आर्य !' घोड़े पर चढ़ते हुए मिश्र जी ने कहा।

'नमस्कार सैनिक।'

और पालकी चल पड़ी। नगर पथ छोड़कर मिश्र जी ने कच्ची डगर पर घोड़ा बढ़ा दिया। कमल-कुंज नगर के दूसरे छोर पर था।

पालकी बढ़ी जा रही थी।

राह सुनसान थी। दूर आकाश में छठ के चांद की एक कोर मात्र दिखाई पड़ रही थी। चन्द्रोदय में अभी विलम्ब था।

जब पालकी कमल-कुन्ज पहुंची तो चन्द्रोदय हो चुका था।

मिश्र जी ने प्रहरी को आज्ञा-पत्र दिखाया। दासों को ठहरने का आदेश दिया। विशाल ताल के छोर पर बना कमल-कुन्ज भवन

मिश्र जी ने खोला और अकेले—विष कन्या के साथ—उसमें प्रवेश किया।

कमल-कुन्ज में दीप जलाये गए।

'देवि !' चलने के लिए तत्पर हो मिश्रजी बोले—'मैं महाराज जयवर्धन और वीरसेन का सन्देश वाहक हूं।' उन्होंने अंगूठी वाला हाथ आगे बढ़ा दिया।

'मेरे लिए कोई सन्देश !' मुस्करा कर रत्ना ने पूछा।

'हां देवि, परिस्थिति कुछ बदल गई है। दुर्भाग्य से आज ही कामरूप महाराज का एक दूत आया और वीरसेन सामंत की इच्छा के विपरीत महाराज समरसेन से साक्षात् पा गया। इसलिए अब आपका परिचय कामरूप की राजकुमारी रत्नमालिका नहीं है।'

'तब ?'

'आप कटक के सेनानायक की कन्या के रूप में महाराज से भेंट करेंगी।'

'आदेश याद रक्खूंगी।'

'एक आदेश महाराज जयवर्धन का और है।'

'कहो ?'

'उनका आदेश है कि आज की रात ही आप उनके भाग्य का निर्णय कर सकती हैं। देवि, आज की रात ही आप अपना लक्ष्य पूरा करें।'

'अपनी ओर से पूर्ण प्रयत्न करूंगी।'

'मैं महाराज को लिवाने जा रहा हूं।'

'सुनो सैनिक, सामंत वीरसेन के आज तक दर्शन नहीं हुये हैं, फिर भी उनसे मेरा प्रणाम कहना…।'

'अवश्य कहूंगा, देवि।'

'उनसे कहना कि अगर महाराज समरसेन खूब सुरापान करके आयें तो महाराज जयवर्धन का आदेश पूरा होने में और सुभीता रहेगा।'

'सन्देश पहुंचते ही दे दूंगा, परन्तु देवि, क्या यह आवश्यक है ?'

'हां सैनिक, क्यों आवश्यक है, यह तुम नहीं समझ पाओगे।'

'तो मुझे आज्ञा दो देवि, आज की रात आपकी सेवा में दासी न रहे, ऐसा महाराज जयवर्धन का आदेश है, आशा है केवल एक रात आप बिना दासियों के ही बिता लेंगी। प्रातः होते ही दासियां प्रस्तुत कर दूंगा !'

'कौन कह सकता है कि प्रातः क्या होगा ?' विरक्त भाव से रत्ना ने कहा।

'प्रातः महाराज जयवर्धन रूपपुरी में होंगे, देवि।'

और चम्पावती.........

वीरसेन के महल में अनेक सरदारों और सामन्तों की उपस्थिति में महाराज समरसेन और वीरसेन चम्पावती की कला पर मुग्ध होकर वाह-वाह कर रहे थे। उसके गायन में जादू था और नृत्य में टोना।

वीणा की सुरीली तान, मृदंग की थाप तथा घुंघुरुओं की झन्कार से महल गूंज रहा था।

अंगूठी ने यहां भी काम दिया मिश्र जी उसी कक्ष में पहुंच गए जहां महफिल जमी थी। रूप चम्पावती का भी निखर उठा था, नृत्य के परिश्रम के कारण मुख पर हल्की लाली छा गई थी, जिस ने अप्सरा जैसा अनूठा रूप बनाने वाले शृंगार में योग दिया था।

मिश्र जी से दृष्टि मिलते ही चम्पावती ने नृत्य बन्द कर दिया। समरसेन की ओर हाथ जोड़कर वह बोली—'कुछ क्षण विश्राम की आज्ञा दें महाराज, थक गई हूं। अगर लड़खड़ा कर गिर पड़ी तो...।'

वीरसेन की दृष्टि मिश्र जी पर पड़ी। वह अपने स्थान से उठ कर मिश्र जी के पास आया।

'तुरन्त चलना होगा, श्रीमन्त।' धीमे स्वर में मिश्र जी ने कहा।

'क्या वह...?'

'कटक कन्या आ गई महाराज।'

'ओह तो...।'

'यह मेरा अनुरोध है, आपको तुरन्त चलना होगा।'

'हां-हां, चलूंगा। अवश्य चलूंगा। तुम ठहरो।'

वीरसेन महाराज के निकट जाकर बोला—'महाराज आपको तुरन्त निशा भवन जाना होगा।'

'मैं तो कब से तैयार बैठा हूं वीरसेन भैया ?' चतुर समरसेन ने कहा।

'सामन्त रत्नसेन ?' एक अधेड़ व्यक्ति को वीरसेन ने सम्बोधित किया।

'आज्ञा।'

'महाराज को निशाभवन के द्वार तक छोड़कर आना होगा।'

'तुम नहीं चलोगे वीरसेन भैया ?'

'नहीं, मेरा जाना उचित नहीं है ! प्रहरी ।' और प्रहरी को वीरसेन ने आदेश दिया—'रथ तैयार कराओ।'

अन्य उपस्थित व्यक्तियों को बिदा करके वीरसेन ने चम्पावती को भी जाने की आज्ञा दे दी। द्वार से खिसक कर मिश्र जी कक्ष से बाहर आ गए।

कुछ क्षण का ही दोनों एकान्त पा सके।

'कहो महाराज ?'

'हां महाराजिन।'

'बाजी हारे या जीते ?'

'हारने के लिये चौसर कोई और बिछाता होगा। मेरा नाम शंकर मिश्र है।'

'हूं !' मुँह बिचकाया चम्पावती ने—'जल्लाद ! आज की रात ।'

जाने चम्पावती क्या कहना चाहती थी कि मिश्र जी ने बीच में बात काटकर कहा—'बेहोशी की नींद मत सोना।'

चम्पावती चली गई।

कुछ देर बाद समरसेन भी पर्दे के भीतर रथ में बैठकर चार

अश्वारोही सैनिकों की सुरक्षा में निशा भवन के लिये रवाना हो गये।

रत्नमालिका का सुझाव मानो नियति के आदेश से वीरसेन पूरा कर चुका था। वह खूब सुरा पिये हुए था, चलने से पूर्व सुरा पात्र सुरा-बाला के सम्मुख बढ़ाते हुये उसने एक आदेश और दिया। मुख्य प्रहरी को बुलाकर उसने पूछा—'आधी रात में कितना विलम्ब है ?'

'अधिक बिलम्ब नहीं है, अन्नदाता।'

'जैसे ही आधी रात बीते, महल के बुर्ज से जलती मशाल पांच बार घुमाकर मृदुला तट पर स्थित मेरे गुप्तचरों को उत्कल राज्य में प्रवेश का निर्देश देना।'

'जो आज्ञा।'

'इस काम के लिए तुम उत्तरदाई हो।'

मुख्य प्रहरी ने सिर झुकाकर स्वीकृति दी।

'जा सकते हो।' सामंत ने आदेश दिया।

'महाराज, बहुत देर हो गई है। बेचारी थकी-मांदी कन्या आपकी प्रतीक्षा में नयन बिछाये बैठी होगी।'

'वहीं तो चल रहा हूं वचन, परन्तु तुम ऐसे क्यों खड़े हो ?

चषक उठाओ, पियो। आज मेरी खुशी के लिये पियो—मेरे मित्र।'

और वीरसेन ने पी। खूब पी।

फिर डगमगाते पाँवों से वीरसेन ने कक्ष पार किया।

मिश्र जी तथा अन्य दो सैनिकों की सहायता से वह घोड़े पर बैठा। एक घोड़ा बेचने के बाद मिश्र जी ने दूसरा पा लिया था।

निर्जन पथ पर वीरसेन के मुख से सुरा ने सत्यता प्रकट की—'वचन··· इस दुनिया में एक तुम मेरे मित्र हो। बस, तुम मेरे मित्र हो। बूढ़ा जयवर्धन नीतिज्ञ बनता है। मुझे मूर्ख बनाने चला है। जानते हो, समरसेन बस आज रात का मेहमान है। उसके बाद मैं राजा बनूँगा—जयवर्धन ने सिर्फ एक विष कन्या इस शर्त पर दी है कि मैं उसे पाटलिपुत्र का आधा राज्य दूँ। मैंने कह दिया—दूँगा··· वह आधी रात के बाद पांच हजार सेना सहित मृदुला पार करेगा। करने दो। समरसेन के मरने के बाद अविनाश और रुद्रभानु झक मार कर मुझे राजा बनायेंगे, मुझे नहीं तो और किसे बनायेंगे? राज्यवंश में शेष मैं ही हूं, और मेरी भाग्य रेखायें तो मुझे चक्रवर्ती सम्राट बनाने पर तुली हैं। आधा राज्य कितने दिन के लिए लेगा जयवर्धन? मैं उससे उत्कल भी छीनूंगा, और उसकी भी वही दशा होगी, जो आज समरसेन की होने वाली है। यह मत समझो कि मैं सुरा पीकर बहक रहा हूं, सत्य आज केवल तुमसे कहा है। इसलिए कि तुम ही मेरे सच्चे मित्र हो। तुम्हें रुद्रभानु के स्थान पर मैं तुम्हें सेनापति बनाऊंगा।'

'परन्तु महाराज···।'

'तुम्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ?'

'मैं यह कह रहा हूं महाराज कि शीघ्र चलिए, बेचारी···'

कमलकुंज के द्वार पर मिश्र जी ने कहा—'अब आगे आप हो जायें श्रीमान्।'

'परन्तु वचन···।' लड़खड़ाते हुए वीरसेन ने कहा—'हम दोनों में परिचय तो नहीं है?'

'परिचय की आवश्यकता अपरिचितों को होती है, कन्या तो आपसे जन्म जन्मान्तर से परिचित है आपकी प्रतीक्षा में वह अकेली है, एकदम अकेली।'

'भाग्य की रेखायें कैसी प्रबल होती हैं वचन, संन्यासी की भविष्यवाणी अक्षरशः सत्य हुई। जानते हो कटक की कन्या को प्राप्त किये बिना मैं सम्राट नहीं बन सकता था। संन्यासी ने कहा था कि कटक से आने वाली सुन्दरी की प्रतीक्षा करना।'

'प्रतीक्षा की घड़ियां पूर्ण हुईं श्रीमान् ।'

वीरसेन ने तलवार खोलकर मिश्र जी को थमा दी और भवन में प्रवेश किया। मिश्र जी ने बाहर से द्वार बन्द कर दिया।

भवन के मुख्य कक्ष में मखमली शैया त्याग कर रत्ना शीतल पाटी पर लेटी हुई थी। किसी के आने की आहट पाकर वह उठ खड़ी हुई।

लड़खड़ाते हुए वीरसेन ने कक्ष में प्रवेश किया।

वंदना की मुद्रा में रत्ना के हाथ जुड़ गए। उसने जाना कि चिर प्रतीक्षित समरसेन आ पहुंचा।

रूप और लावण्य की मूर्ति देखकर वीरसेन ने अपने आपको धन्य माना। वह अपने भाग्य पर गर्वित हुआ। पाटलिपुत्र का राज्य और सौन्दर्य की यह देवी महारानी।

रत्ना यह नहीं सोच रही थी कि आगन्तुक की जान लेने आई है वह। मन ही मन वह बेहद प्रसन्न थी; क्यों न प्रसन्न होती, आखिर वह भी तो नारी थी। वासना की भूख उसे भी तो थी। आज उसके कौमार्य व्रत की समाप्ति का महोत्सव था।

कुछ देर दोनों एक दूसरे को निहारते रहे।

'विराजिये महाराज।' रत्ना ने मौन भंग किया।

परन्तु वीरसेन बस देख रहा था—उस रूप परी को।

'क्या सोच रहे हैं महाराज ?' वह फिर बोली।

'सोच रहा हूं तुम स्वप्न हो या सत्य ?'

'मैं तो अकिंचन दासी हूं बस !'

'तुम आज मेरी हृदय सम्राज्ञी हो, कल पाटलिपुत्र की सम्राज्ञी बनोगी समूचा मगध देश रूप और दीप्ति से प्रकाशमान हो उठेगा।' वीरसेन आगे बढ़ा—रत्ना के दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर बोला—'तुम्हें पाकर मैं धन्य हुआ।' स्पर्श मात्र से वह रोमांचित हो उठा।

रत्ना ने मुख उठाया। हल्के गुलाबी नयनों में निमन्त्रण था।

वीरसेन को मर्यादा का ध्यान आया। कहीं इस रमणी पर बुरा प्रभाव न पड़े। वह बोला—'प्रिये, शीघ्र ही हम दोनों का विवाह होगा, परन्तु विवाह क्या है ? समाज की साक्षी का नाम विवाह है, हम तो जन्म-जन्मान्तर से विवाहित हैं।'

वीरसेन के वक्ष से रत्ना का मुख स्पर्श हुआ, बांध टूट गया। आकुलता से वीरसेन ने रत्ना को बाहुओं में ले लिया।

और फिर...

नारी सुलभ लज्जा से रत्ना ने कहा—'दीप बुझा दीजिये आर्य !'

'क्यों ?'

'दीप बुझा दीजिये आर्य। मुझे लाज लगती है।' वह फिर बोली।

'दीप नहीं बुझेगा देवि। मुझे अपनी आंखें तृप्त करने दो।' वीरसेन ने रत्ना के शरीर पर से अन्तिम वस्त्र हटा दिया।

दीप काँप उठा।

शैया लरज उठी !

विष कन्या प्रथम बार सुहागिन हुई—

और—वीरसेन की अन्तिम घड़ी उसे पुकार उठी।

कहीं दूर पाटलिपुत्र वैभव की प्रतीक. मगध सेना की तुरुही बजी।

शैया पर निश्चेष्ट पड़ा वीरसेन तेजी से उठा।

अब क्या होगा ? इस उत्सुकतावश रत्ना ने उठकर पुनः वस्त्र धारण करने आरम्भ कर दिये।

लड़खड़ाते से स्वर में वीरसेन ने कहा—'मुझे क्षमा करना देवि, मुझे तनिक बाहर जाना होगा। तुरुही की ध्वनि ने मुझे असमंजस में डाल दिया है।'

तुरुही फिर बजी।

वीरसेन ने कदम बढ़ाया। लड़खड़ाया, संभलने की चेष्टा की—फिर गिर गया।

विष कन्या ने पहली बार विष कन्या का प्रभाव देखा।

वीरसेन ने फिर उठने का साहस करते हुए कहा—'लगता है सुरा का प्रभाव कुछ बढ़ गया है। मेरा कण्ठ सूखा जा रहा है—देवि, मुझे कुछ जल दो···।' उठ नहीं सका वीरसेन।

'आर्य, यहां तो जल कहीं नहीं है, कोई दास-दासी भी नहीं।'

वीरसेन तड़प उठा—'मुझे जल दो, मेरे प्राण···जल।'

द्रवित रत्ना द्वार की ओर दौड़ी। बन्द द्वार को दोनों हाथों से शक्ति भर पीटती हुई चिल्लाई—'खोलो, द्वार खोलो।'

तुरन्त ही द्वार खुल गया। द्वार पर मिश्र जी थे, दाढ़ी उतार दी थी। अब वह अपने असली वेश में थे।

'जल, प्रहरी जल लाओ जल्दी।'

शान्त मिश्र जी ने पूछा—'जल का क्या होगा देवि ?'

'महाराज समरसेन तृषा से व्याकुल हैं प्रहरी।'

'आप महाराज समरसेन को पहचानती हैं ?'

'प्रहरी, जल लाओ जल्दी, व्यर्थ समय नष्ट मत करो।' व्याकुल रत्ना ने कहा।

'जिसके लिए आप इतनी व्याकुल हैं देवि, वह खापुरी का सामंत वीरसेन तो दम तोड़ चुका होगा, फिर जल का क्या उपयोग ? और फिर आपको इतनी दया, इतनी ममता प्रदर्शित करने की आवश्यकता भी नहीं।'

'प्रहरी !' आंखें तरेर कर रत्ना बोली !

'शान्त रहो विष कन्या···।'

'जल···!' रेंगता हुआ वीरसेन द्वार तक आकर चीत्कार उठा।

'जल से तृषा शान्त नहीं होगी सामंत।' घृणापूर्ण स्वर में

मिश्र जी ने कहा—संन्यासी की भविष्य वाणी झूठी हो गई। दुर्भाग्य से आप अपने ही तीर के शिकार हुए हैं सामंत, यह विष कन्या है।'

'जल···दो घूंट जल···जल···जल।'

'दया करो प्रहरी!'

मिश्र जी गए, कमल कुंज भवन के प्रहरी से जल से भरा एक घड़ा मांग लाये।

अंजुलि से रत्ना ने वीरसेन के मुंह में पानी डाला।

वह एड़ियां रगड़ रहा था, शरीर श्याम पड़ता जा रहा था और···उसके निकट बैठी रत्ना आंसू बहा रही थी।

शनैः शनैः वीरसेन की आँखें स्थिर हो गईं।

वीरसेन ने दम तोड़ दिया।

'उठो देवि, मुझे महल बन्द करना है।'

'मुझे कहां चलना होगा?'

'मैं आपको न्याय के लिए महाराज समरसेन के पास ले चलूंगा! मैं जानता हूं कि वीरसेन की मृत्यु से आपको दुःख हुआ है, परन्तु देवि— एक दुखदाई समाचार और है महाराज जयवर्धन की इच्छा पूरी नहीं हो सकी, सेनापति रुद्रभानु भी अपनी सेना सहित यहीं उपस्थित हैं। महाराज जयवर्धन अथवा उनका कोई सैनिक मृदुला पार नहीं कर सकेगा!'

'आप कौन हैं आर्य?' उत्सुकता से रत्ना ने पूछा।

'एक समाचार और है कि आशु सहित तुम्हारे समस्त रक्षक सैनिक या तो काट डाले गये होंगे या बन्दी बना लिये गए होंगे।'

'मैंने यह पूछा था आर्य—कि आप कौन हैं?'

'मुझे जानकर भी आपको दुःख होगा—मेरा नाम शंकर मिश्र है। कुछ देर पहले दाढ़ी वाला सन्देशवाहक था। देवि को याद होगा—मृदुला के तट पर एक नाग भी आपको भेंट कर चुका हूं।'

'क्या आप वही शंकर मिश्र हैं, जिन्होंने अयोध्या नरेश को, कन्नौज की विष कन्या से बचाया था?'

'हाँ देवि, और आज उत्कल की विष कन्या से मगधपति समरसेन को बचाया है।'

तुरुही अब भी निरन्तर बज रही थी।

महाराज समरसेन की आशाओं पर तुषारापात हुआ ! निशा भवन खाली था ।

प्रहरी ने नम्रतापूर्वक बताया कि अभी पहला पहर भी नहीं बीता है, यहाँ बंग देश के सहस्त्रों सैनिक तथा राजकुमारी जी थीं । पहले पालकी में राजकुमारी जी गईं, और फिर सैनिक कहां गए इसकी जानकारी प्रहरी को नहीं थी । उसने बताया कि उन सैनिकों के जाने के बाद वह पहरे पर आया है ।

तो क्या वीरसेन ने यह मजाक किया है ? परन्तु ऐसी आदत तो वीरसेन की है नहीं ! महाराज समरसेन कुछ भी नहीं समझ सके ।

'रत्नसेन, लौट चलो ।' महाराज के मुंह से आदेश निकला ही था कि घोड़े की टापों की आवाज निकट ही सुनकर उन्होंने मुंह फेर कर देखा । एकबारगी आंखों को विश्वास नहीं हुआ । घुड़सवार महामंत्री अविनाश थे ।

'प्रणाम महाराज !' शुष्क स्वर में अविनाश ने शिष्टाचार की मर्यादा पूरी करते हुए कहा—'रथ में विराजिये महाराज ।'

अविनाश कर्नाटक से इतनी जल्दी कैसे लौट आए—समरसेन को आश्चर्य था । परन्तु भेंट ऐसे स्थान पर हुई थी कि कुछ पूछने के स्थान पर महाराज स्वयं भयभीत हो गए थे । वह जानते थे कि एकान्त में उन्हें अविनाश को अनेक प्रश्नों का उत्तर देना पड़ेगा ।

महाराज सामंत रत्नसेन सहित आज्ञाकारी बालक की भांति रथ में बैठ गए ।

रथ फिर नगर की ओर दौड़ पड़ा ।

वीरसेन के महल में पहुंच कर मंत्री अविनाश न जाना—कि—वीरसेन महल में नहीं है । रत्नसेन को महामंत्री ने आज्ञा दी कि वह वीरसेन को खोजकर लाये ।

आदेश का अर्थ केवल रत्नसेन को अलग करना था । अविनाश महाराज को अन्दर ले गये ।

और तभी तुरही गूंज उठी ।

'यह तुरही की आवाज...?' शंकित समरसेन के मुंह से अनायास ही यह शब्द निकल गए ।

उपेक्षा से अविनाश मुस्कराये—'यह युद्ध हो रहा है, महाराज ।'

'युद्ध ।' समरसेन का चेहरा फक् पड़ गया—'कैसा युद्ध ?'

'उत्कल और पाटलिपुत्र का युद्ध । तुम्हारे भाई वीरसेन ने

जयवर्धन को आक्रमण के लिये निमंत्रित किया था। साथ ही, जयवर्धन ने तुम्हारे लिए भी विष कन्या का उपहार भेजा था। सौभाग्य से बच गए हो, ईश्वर को धन्यवाद दो !'

'यह आप क्या कह रहे हैं महामंत्री ?' चकित समरसेन ने कहा।

'आपको वीरसेन पर विश्वास था न, सेनापति और मंत्री को आप अपने ऊपर भार समझते थे। वीरसेन ने आपको विश्वास का पुरस्कार देना चाहा था···।'

'यह झूठ है।' आवेश से आकर महाराज ने कहा।

'शत प्रतिशत सच है।' दृढ़ता से अविनाश बोले—'विष कन्या के रक्षक उत्कल सैनिकों को हमारे सैनिकों ने बन्दी बना लिया है। केवल विष कन्या जाने कहाँ निकल गई है— आशा है यह भी शीघ्र ही मिल जाएगी।'

'परन्तु महामंत्री, आखिर वीरसेन भैया ने ऐसा क्यों किया ?'

'सम्राट बनने की महत्वाकांक्षा से !'

'मैं विश्वास नहीं कर सकता।'

'तुमसे विश्वास करने को कहता कौन है ?' क्रोध से अविनाश का चेहरा तमतमा उठा—'कल वीरसेन को मैं शूली दूंगा।'

'महामंत्री !'

'राज्य कोई खिलौना नहीं होता, महाराज। वह मुकुट जो राज्याभिषेक के समय राजा के सिर पर रक्खा जाता है—एक उत्तरदायित्व का भार होता है, उन प्रजाजनों के प्रति जो राजतंत्र के करों का भार वहन करते हैं···रणभेरी सुन रहे हैं न—सीधे सादे सैनिक किस भावना से खून की होली खेल रहे हैं ? वह केवल इसलिये लड़ रहे हैं कि मगध पर जयवर्धन का खूनी राज न हो !

षड्यन्त्रों और विष कन्याओं का युग फिर न लौट आये। जयवर्धन को जो भी मगधवासी आक्रमण के लिये निमंत्रण देता है, वह मगध की प्रजा के लिये सबसे बड़ा विश्वासघाती है। वीरसेन को किसी भी हालत में क्षमा नहीं किया जायेगा···।'

कक्ष में शान्त सेनापति रुद्रभानु ने प्रवेश किया।

'कहिए आर्य, क्या समाचार है ?' सेनापति को देख कर अविनाश मुस्कराये।

'तुम्हारे आदेशानुसार मैंने जयवर्धन को बचकर भाग जाने दिया है। मगध के सैनिकों ने मृदुला पार नहीं की। परन्तु एक बार मृदुला का जल तो लाल हो ही गया है।'

'एक सैनिक टुकड़ी रूपपुरी की सुरक्षा के लिए नियुक्त कर दीजिए। किसी भी हालत में वीरसेन बच कर न जा सके। जयवर्धन को इसलिए चला जाने दिया गया है कि उसे घेरने का अर्थ होता, भयंकर युद्ध। वर्षों नर संहार का क्रम चलता रहता।'

कक्ष में मिश्र जी ने प्रवेश किया। आज वह कुछ उदास और थके से थे।

'आइए मिश्र जी, आइये।' अविनाश ने मुक्त कण्ठ से अभिवादन स्वीकार करते हुए कहा—'जब से मैं यहाँ आया हूं तभी से आपके दर्शनों के लिये लालायित था।'

'आप कर्नाटक से...?'

'कर्नाटक कहाँ जा पाया मिश्र जी। काशी पहुंचते-पहुंचते आपका सन्देश, जो सेनापति महोदय द्वारा प्रेषित था—मिला—बस उल्टे पाँव ही लौट पड़ा ! हाँ, तो मिश्र जी—आपकी कृपा से सभी काम सम्पूर्ण हो चुका है ! केवल एक काम शेष है और उसे आपही कर सकते हैं, वीरसेन को और खोज लाइये।'

'वीरसेन अब इस संसार में नहीं है।'

महाराज समरसेन, अविनाश मंत्री, और सेनापति रुद्रभानु तीनों ही मिश्र जी की बात सुनकर चकित रह गए।

'वीरसेन भैया कैसे मरे?' यह समरसेन का प्रश्न था।

'उनकी जान लेने वाला तो मैं नहीं हूं महाराज, अलबत्ता उनकी मृत्यु का कारण मैं ही हूं। विष कन्या आपके लिए निशा-भवन में ठहराई गई थी, अगर मैं आपसे कहता कि निशा भवन में विष कन्या है—कामरूप की राजकुमारी नहीं, तो क्या आप मुझ पर विश्वास करते, महाराज?'

'मैं...।' समरसेन उत्तर न दे पाए।

'मैं जानता था महाराज, कि आप मेरा नहीं—वीरसेन का विश्वास करेंगे, इसलिये मजबूरन मुझे विष कन्या को निशा भवन से हटाना पड़ा।'

'वीरसेन कैसे मरे?' महाराज ने फिर पूछा।

'उसी विष कन्या से सुख भोग करने से—जो उन्होंने उत्कल से आपके लिए मँगाई थी! मैं वीरसेन की लाश और विषकन्या को साथ लेकर आया हूं महाराज!'

वीरसेन की लाश को उठाये दास कक्ष में प्रविष्ट हुए। मानव हृदय में विचित्र और आश्चर्यजनक परस्पर विरोधी भावनायें होती हैं। उस वीरसेन के लिए जिसने समरसेन को मार डालना चाहा था, समरसेन ने विलाप किया। वह रोए और 'भैया-भैया रे' के उच्चारण से महल को गुँजा दिया।

प्रात:काल...इस अनुरोध को टालना अविनाश मंत्री ने उचित नहीं समझा कि वीरसेन का दाह संस्कार राज्यवंश की परम्परा के अनुकूल किया जाए।

पाटलिपुत्र की सत्ता और सत्ताधीश पर आया हुआ संकट टल गया।

और जब राजकीय शोक समाप्त हुआ तो प्रस्थान से पूर्व रूपपुरी में महाराज समरसेन का दरबार हुआ।

रूपपुरी का नया शासक नियुक्त किया गया।

विष कन्या को न्याय के लिए प्रस्तुत किया गया।

सेनापति रुद्रभानु ने उससे प्रश्नोत्तर किए—

वात्सल्यपूर्ण ममता भरे स्वर में उन्होंने विष कन्या को सम्बोधित किया—'बेटी, क्या नाम है तुम्हारा?'

ऐसा ममत्व भरा सम्बोधन रत्ना ने पहले कभी नहीं सुना। भावावेश में उसकी आँखें भर आईं, बोली—'मेरा नाम रत्ना है पिता जी।'

'उत्कल महाराज ने तुम्हें रूपपुरी भेजा?'

'हाँ पिता जी।'

'महाराज समरसेन की हत्या के लिए?'

'हाँ पिता जी।'

'और तुम्हारे द्वारा वीरसेन की हत्या भी हुई?'

रत्ना ने स्वीकृत सूचक सिर हिलाया।

'अपने अपराध का दण्ड जानती हो?'

'निश्चित मृत्यु।'

'मृत्यु दण्ड हो सकता है—परन्तु मुक्ति तो नहीं है बेटी। फिर पुनर्जन्म होगा, तुम मगध में भी उत्पन्न हो सकती हो और जिस प्रकार आज उत्कल के लिए प्राण देने को सहर्ष तत्पर हो उसी प्रकार तब मगध के लिए भी प्राण न्यौछावर कर सकती हो।'

रत्ना वृद्ध सेनापति के कथन का अर्थ नहीं समझ सकी।

वह फिर बोले—'मगध के महामंत्री आर्य अविनाश बने तब बेटी मगध ने अपना विष कन्या-गृह सदा सर्वदा के लिये बन्द कर दिया था। हमारे महामंत्री का कहना है कि यह एक घृणित व्यापार है। षड़यंत्रों का वह युग जो पाटलिपुत्र में महामंत्री राक्षस और चाणक्य ने आरम्भ किया था, महामंत्री अविनाश ने समाप्त कर दिया है। पीछे की ओर पशु लौटा करते हैं, मानव का धर्म प्रगति है, इसलिए महाराज समरसेन की आज्ञा से मैं तुम्हारी मुक्ति की घोषणा करता हूं···।'

'नहीं, पिता जी नहीं···मेरा जघन्य जीवन कालिमा और विषयुक्त है। दंड मेरे लिए मुक्ति है।'

'नहीं बेटी, पाटलिपुत्र का कौशल तुम्हारा जीवन बदल देगा। हमारे चिकित्सकों ने कितनी ही विष कन्याओं का विष समाप्त कर के उन्हें नारी जीवन जीने का सौभाग्य दिया है···तुम मां बनोगी, बेटी।'

प्रभात का स्वप्न—विष कन्या गद्‌गद् हो गई। उसने श्रद्धा-पूर्वक पाटलिपुत्र के उदार शासक को नमस्कार किया !

अब मिश्र जी को पुकारा गया।

महाराज समरसेन ने उनसे कहा—'शंकर मिश्र, हम तुम्हारे आभारी हैं। तुम जो चाहो पुरुस्कार मांग लो।'

'महाराज का विश्वास ही चाहिये।'

'वह तो सदा सर्वदा तुम्हारे साथ रहेगा, कुछ और मांगो, मिश्र जी।'

'अन्नदाता—एक और अपराधी को क्षमा किया जाए !'

'प्रस्तुत करो।'

सुहागिन जैसा शृंगार किए चम्पावती को मिश्र जी ने दरबार में प्रस्तुत किया।

महाराज चौंके—'कौन ? बंग देश की नर्तकी ?'

'नहीं महाराज, आपके रूपपुरी पधारने से पूर्व उत्कल महाराज की गुप्तचर।'

'और मेरे रूपपुरी आने के पश्चात् ?'

'आपके विश्वासपात्र शंकर मिश्र की पत्नी !'

सभी को आश्चर्य हुआ। महाराज समरसेन ने अर्थ भरी दृष्टि से अविनाश की ओर देखा, अविनाश मुस्कराये और महाराज ने कहा—'हम क्षमा करते हैं। किन्तु यह पुरुस्कार नहीं हुआ—कुछ और मांगो···।'

राजेश ने कलाई में बँधी रिस्टवाच देखी और फिर उत्सुक श्रोताओं को निहारते हुये बोले—'और मित्रों—रूपपुरी और पाटलिपुत्र के मार्ग में यह कथा समाप्त होती है। एक शीतल वृक्ष कुंज के पड़ाव पर मुस्कराते हुए मिश्र जी से महामन्त्री अविनाश ने पूछा—'मिश्र जी एक शंका है ?'

'···कहिए मन्त्रीवर ?'

'तुम्हारी नई पत्नी को मिश्राइन जी घर में घुसने भी देंगी या नहीं ?'

'यह भविष्यवाणी तो कोई ज्योतिषी ही कर सकता है। परन्तु मैं निश्चित हूं। महामन्त्री मेरे मित्र हैं, मुझ पर कोई संकट आएगा तो वह मेरी सहायता करेंगे ?'

'···न भाई, मिश्राइन भी मेरी शत्रु नहीं, मैं तटस्थ रहूंगा।'

बात चम्पावती के कानों में भी पड़ गई। मुस्करा कर वह बोली—महामन्त्री निश्चिन्त रहें। चम्पावती अगर आपके मिश्र जी पर जादू चला कर उन्हें वश में कर सकती है तो मिश्राइन पर भी वह सम्मोहन मन्त्र द्वारा काबू पा सकती है।...'

विष कन्या की कहानी समाप्त करते हुए राजेश ने बैरे को पुकार कर कहा—'काफी लाओ।'

और काश्मीर की घाटी में अब भी मूसलाधार वर्षा हो रही थी।

'कैसी लगी कहानी?'

'अद्‌भुत! आपका सुनाने का ढंग कितना आत्मीयतापूर्ण है-पर नाटकीयता की थोड़ी कमी है...'

राजेश हँसे—'भविष्य में कोई कहानी सुनानी हुई तो नाटकीयता का भी ध्यान रक्खूँगा!'

'एक कहानी और...'

जयन्त बोला—'हां राजेश 'शहजादी गुलबदन' वाली अद्‌भुत कहानी क्यों नहीं सुना देते?'

'अब फिर कभी भाई! आज बस!!' और राजेश ने अँगड़ाई ली!!!

० बस ०